भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व

(संस्कार, वर्णाश्रम व्यवस्था, पुरुषार्थ-चतुष्टय)



राष्ट्रिय पंडित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी

भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व

(संस्कार, वर्णाश्रम व्यवस्था, पुरुषार्थ-चतुष्टय)

राष्ट्रिय पंडित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

ारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व

(संस्कार, वर्णाश्रम व्यवस्था, पुरुषार्थ-चतुष्टय)

राष्ट्रिय पंडित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

BHARATIYA SANSKRITI KE MOOL TATTVA

by

Vrajvallabha Dwivedi

ISBN : 81-7124-329-0

प्रथम संस्करण : २००३ ई०

मूल्य : साठ रुपये

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी-२२१ ००१

फोन व फैक्स : (०५४२) २३५३७४१, २३५३०८२

E-mail : vvp@vsnl.com ● E-mail : vecppl@satyam.net.in

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी-२२१००१

विषय-क्रम



प्रस्तावना

'सेक्युलर स्टेट' शब्द के गलत और असांस्कृतिक अनुवाद 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' के कारण भारतीय समाज तेजी से धर्मविहीन होता जा रहा है, वह अर्थ और काम के चंगुल में फँसता जा रहा है। भारतीय समाज चार वर्ण, चार आश्रम और चार पुरुषार्थों से संचालित रहा है। इसमें धर्म से नियन्त्रित अर्थ और काम के सेवन की अनुमति दी गई है। तभी व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। आज का समाज जब धर्म के नियन्त्रण से ही हट रहा है, तो स्पष्ट है कि मोक्ष की भी उसे कोई अपेक्षा नहीं रह गई है।

किसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक होते हुए भी अत्यन्त खेद एवं परिताप का विषय है कि आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में धर्म और अध्यात्म की शिक्षा का नितान्त अभाव होता जा रहा है। समाज में भी आध्यात्मिक चेतना समाप्त होती जा रही है। यह इसी का प्रभाव है कि समाज में उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता, अनाचार और भ्रष्टाचार का प्रसार बढ़ता ही जा रहा है। फलस्वरूप हमारी पवित्र शिक्षा संस्थाओं में ही नहीं, हमारे देश के समस्त सार्वजनिक क्षेत्रों में भी व्यापक उच्छृंखलता, कदाचार और चरित्र का ह्रास निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। विनय का सर्वत्र अभाव हो गया है।

चारित्र्य और शालीनता के सहारे ही समाज समुन्नत हो सकता है। चरित्र-निर्माण का आरम्भ मुख्यतया शिक्षा-संस्थाओं के द्वारा ही होता है। यदि शिक्षा-संस्थाओं में यह निर्माण सर्वांगीण न हुआ, तो फिर अन्यत्र कहाँ होगा? अत: वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में अत्यन्त अपेक्षित शिक्षा-सुधार के लिए, प्रत्येक व्यक्ति के लिए धर्म की शिक्षा नितान्त अपेक्षित है। यह देश का सौभाग्य है कि यहाँ के सर्वोच्च न्यायालय ने इसके लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

किन-किन साधनों से मनुष्य का अभ्युदय होता है और किन-किन आचरणों से मनुष्य की अवनति होती है, इस विषय का व्यापक ज्ञान मानव को धर्म और संस्कृति के अध्ययन के माध्यम से ही हो सकता है। भारतीय धर्मों की और तदाधारित संस्कृति की यह विशेषता रही है कि दुनिया के किसी भी मजहब या रिलीजन से इसका कोई विरोध नहीं है। इस तरफ राष्ट्र के महान् मनीषियों का ध्यान आकृष्ट होना चाहिए। हमें यह याद रखना है कि धर्महीन राजनीति अत्यन्त अशोभनीय ही नहीं, देश के अमंगल का भी कारण बन सकती है। भारतीय धर्मों पर और यहाँ की चिर-पुरातन और चिर-नवीन संस्कृति पर आरोपित मिथ्या

आक्षेपों का समाधान उन्हें हीनभावना से मुक्त होकर करना चाहिए। भारतीय समाज किसी एक धर्म-ग्रन्थ से संचालित नहीं है। वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण, आगमशास्त्र के साथ सम्पूर्ण भारत की विभिन्न भाषाओं के माध्यम से पूरे देश में फैली सन्तों की वाणियाँ भी समान रूप से इसे मान्य हैं। वेदशास्त्र और आगमशास्त्र के समान ही यह बाइबिल और कुरान को भी मान्यता देता है। भारतीय समाज में उदारता के बीज उपनिषत्काल में ही बोये जा चुके थे।

हालैण्ड के एक संस्कृतज्ञ मनीषी डॉ० जे० गोण्डा ने एक ग्रन्थ लिखा था—''चेंज एण्ड कन्टीन्युइटी इन इण्डियन रिलीजन''। यह रिलीजन दूसरा कोई नहीं, भारतीय सनातन धर्म ही है। निरन्तरता के साथ सतत परिवर्तनशीलता भी इसमें विद्यमान है। यह वेद को अब भी सर्वश्रेष्ठ शास्त्र मानता है और इस दुनियाँ का प्रत्येक प्रबुद्ध मनीषी भी इससे सहमत है। समाजवादी चिन्तक आचार्य नरेन्द्रदेव का कहना है कि भारतीय संस्कृति को यदि कोई एक नाम देना हो, तो वह होगा सनातन धर्म। यह इसलिए है कि भारत के सभी प्राचीन धर्मों के उत्कृष्ट तत्त्वों को इसने आत्मसात् कर लिया है और इसकी यह सामर्थ्य अभी भी चुकी नहीं है कि यह आधुनिक विज्ञान के साथ बाहरी धर्मों में भी, जो अब बहुत कुछ इसी के अंग बन चुके हैं, सामंजस्य स्थापित न कर सके। विश्व में शान्ति की स्थापना का यह एक सही मार्ग है।

आर्य-द्रविड़, श्रमण-ब्राह्मण, ब्राह्मणवाद-मनुवाद, भगवाकरण जैसे कल्पित अथवा वास्तविक विवादों को उखाड़ कर समाज में विग्रह फैलाने का तथा धर्मान्तरण की भूमिका को सही बताने का प्रबल प्रयत्न आजकल चल रहा है। यह प्रच्छन्न रूप से इस उत्कृष्टतम भारतीय संस्कृति को बदनाम कर अपना वर्चस्व स्थापित करने का एक नासमझी से भरा प्रयास है। भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप से परिचित होने पर आप देखेंगे कि यह सब कोरा भ्रमजाल फैलाया गया है। एक ही उदाहरण आप देखिये कि वर्तमान समय में यह पूरा देश आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क जैसे द्रविड़ाचार्यों के उपदेशों से संचालित है।

वेद भारत के ही नहीं, वर्तमान विश्व के भी प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इन्हीं के सहारे भाषाविज्ञान, नृवंशशास्त्र, देवतावाद जैसे नूतन शास्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ है। ऋक्, यजुः, साम और अथर्व नाम से ये प्रसिद्ध हैं। मीमांसासूत्रों (२.१.३६-३८) में इनके लक्षण दिये गये हैं। महाभाष्यकार[१] पतञ्जलि मुनि ने वेदों की ११३१ शाखाओं का उल्लेख पस्पशाह्निक में किया है। प्रत्येक शाखा संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् नामक चार विभागों में विभक्त है; अर्थात् महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि के समय में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में से प्रत्येक की संख्या ११३१ थी। आज ये सब उपलब्ध नहीं हैं।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की 'सारस्वती सुषमा' नाम की संस्कृत भाषा की त्रैमासिक शोधपत्रिका की संपादकीय टिप्पणियों में हमने वर्तमान समय में उपलब्ध संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों की संख्या पर विचार किया था। अब उनका पुन: प्रकाशन तन्त्रयात्रा[२] में हो चुका है (पृ० ३२७-२८; २३४-३५)। तदनुसार आजकल केवल १२ संहिताएँ, १९ ब्राह्मण-ग्रन्थ, ७ आरण्यक और लगभग ३०० उपनिषदें उपलब्ध होती हैं। ५० वर्ष पहले के शोध की यह उपलब्धि है। अब इस पर पुन: विचार अपेक्षित है।

भारतीय शास्त्रों में १८ विद्याओं का समावेश किया गया है। इनमें उक्त चारों वेदों के अतिरिक्त शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष नामक छ: वेदांगों की; पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र नामक चार उपांगों की तथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र नामक चार उपवेदों की गणना की जाती है। भारत में अन्य भी अनेक शास्त्रों का विकास हुआ है। महान् वेदान्ती विद्वान् मधुसूदन सरस्वती ने अपने प्रस्थानभेद[३] नामक छोटे से ग्रन्थ में उनका इन १८ विद्याओं में अन्तर्भाव कर दिया है। यह निगमाधारित विभाग है।

आगमाधारित शास्त्रीय विभाग का वर्णन सर्वात्मशंभु के सिद्धान्त-प्रकाशिका[४] नामक ग्रन्थ में मिलता है। वहाँ सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय को— १. लौकिक, २. वैदिक, ३. आध्यात्मिक, ४. आतिमार्गिक और ५. मान्त्रिक नामक पाँच विभागों में बाँटकर पुन: इनमें से प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद किये गये हैं। इन पचीस प्रकार के शास्त्रों का परिचय वहाँ देखा जा सकता है। ग्रन्थ की प्रस्तावना में निगमाधारित और आगमाधारित शास्त्रीय विभागों की समीक्षा भी की गई है। इससे भारतीय वाङ्मय की विशालता का परिचय मिलता है। महान् सन्त तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस को नानापुराण-निगमागम-संमत माना है।

१८ स्मृतियों, १८ पुराणों और १८ उपपुराणों की भी भारतीय शास्त्रों में गणना की गई है, किन्तु कलकत्ता से प्रकाशित 'स्मृति सन्दर्भ' नामक ग्रन्थ के छ: भागों में लगभग ४६ स्मृतियाँ समाविष्ट हैं। पुराणों और उपपुराणों पर कलकत्ता के डॉ० आर०सी० हाजरा ने प्रशंसनीय कार्य किया है। उनके ग्रन्थों में भी पुराणों और उपपुराणों की संख्या अधिक ही दी गई है। भारतरत्न म०म० पी०वी० काणे ने अनेक जिल्दों में 'धर्मशास्त्र के इतिहास' को प्रस्तुत किया है। लखनऊ से इसका हिन्दी संस्करण भी निकल चुका है। हालैण्ड से १८ खण्डों में सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का इतिहास अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत किया गया है और लखनऊ के संस्कृत संस्थान से भी १८ खण्डों में ही 'संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास' का प्रकाशन हिन्दी भाषा में हो रहा है। इसके कुछ खण्ड प्रकाशित भी हो चुके हैं। पालि भाषा में लिखा गया बौद्ध त्रिपिटक और प्राकृत भाषा में निबद्ध

जैन आगमों का अतिविशाल साहित्य भी प्रकाशित हो चुका है। विविध रंग-रूपों से भरा यह वाङ्मय भारतीय संस्कृति का अंग है।

'भारतीय संस्कृति का विकास'[५] शीर्षक ग्रन्थ के लेखक प्रसिद्ध मनीषी डॉ० मंगलदेव शास्त्री वाराणसी के स्व० डॉ० भगवान् दास, आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ० सम्पूर्णानन्द की परम्परा के प्रतिनिधि विद्वान् थे। भारतीय संस्कृति को इन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से सात धाराओं में विभक्त किया है—१. वैदिक, २. औपनिषद, ३. जैन, ४. बौद्ध, ५. पौराणिक (वर्तमान हिन्दू धर्म), ६. सन्त और ७. इस्लाम-ईसाइयत। इन सभी धाराओं पर अलग-अलग ग्रन्थ लिखने का उनका विचार था, किन्तु वे वैदिक, औपनिषद और पौराणिक धारा पर ही लिख सके। यहाँ निर्दिष्ट भारतीय संस्कृति की प्रथम पाँच धाराओं के विकास और सन्त धारा के भी प्रारम्भिक विकास का आधार ऊपर निर्दिष्ट साहित्य ही है।

अन्य पुरातन संस्कृतियाँ आज जब नामशेष रह गई हैं, भारतीय संस्कृति की मूल पावन धारा अविरल धीर-गंभीर गति से आज भी बह रही है। विभिन्न देश-काल और परिस्थितियों में पली हुई संस्कृतियों को आत्मसात् कर लेने का अद्भुत सामर्थ्य इसमें था। इस संस्कृति ने आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के आक्रमणों का बड़े आत्मविश्वास के साथ सामना किया था और अन्य संस्कृतियों के उदात्त तत्त्वों को अपना लेने में कभी परहेज नहीं किया। प्रारम्भ से ही यह संस्कृति त्याग, तपस्या, सहिष्णुता और समन्वय के चार सुदृढ़ पायों पर खड़ी है।

क्या वैदिक, क्या जैन और क्या बौद्ध—सभी धाराओं में त्याग और तपस्या के आध्यात्मिक दृष्टिकोण का समान रूप से विकास हुआ है और पाश्चात्य संस्कृति अपने राष्ट्र के लिए समय उपस्थित होने पर अधिक से अधिक त्याग और उसकी उन्नति के लिए कठोर परिश्रम करना सिखाती है, किन्तु आज भारत में साधारण जन से लेकर उच्चपदस्थ व्यक्तियों तक में त्याग की भावना प्रसुप्त हो गई है। त्याग और तपस्या की भावना वहाँ भी सो गई है, जो अपने को वैदिक या अन्य आध्यात्मिक संस्कृति का प्रतिनिधि मानते हैं। इनके केन्द्रों में जाकर देखा जा सकता है कि बाह्य आडम्बरों की ओट में मूल मान्यताएँ किस प्रकार सिसक रहीं हैं।

वैदिक धारा में कभी हिंसा-प्रधान कर्मकाण्ड का बाहुल्य हो गया था। औपनिषद धारा ने इसका विरोध किया। उसने वैदिक कर्मकाण्ड को मोक्ष-पथ की यात्रा के लिए कमजोर नाव बताया। ये औपनिषद उपदेश आज विश्व की धरोहर हैं। धन से तृप्ति नहीं हो सकती (नहि वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः) यह उपनिषद् का उपदेश है। इसके विपरीत मार्क्सवाद आज हमें कहाँ ले जा रहा है!

औपनिषद दर्शन और सांख्य-योग दर्शन की पृष्ठभूमि में एक ओर महावीर और बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ , तो दूसरी तरफ पाशुपत एवं पाञ्चरात्र मतों का। बुद्ध और महावीर ने वेद का प्रामाण्य जहाँ सर्वात्मना अस्वीकार कर दिया, वहाँ उपनिषत्, सांख्य, योग, पाशुपत और पाञ्चरात्र मत ने मध्यम मार्ग का अवलंबन किया। इसी के परिणामस्वरूप महाभारत में इन सभी मतों के समन्वय का प्रथम श्लाघ्य प्रयत्न परिलक्षित होता है। परस्पर सहिष्णुता के भाव के विकास के कारण ही यह संभव हो सका। इसके बाद सहिष्णुता और समन्वय के फलस्वरूप ही यहाँ दीर्घकाल तक पौराणिक संस्कृति का विकास हुआ, जो भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है। भागवतकार ने न केवल उपर्युक्त वेदानुवर्ती या मध्यममार्गी, अपितु वेदविरोधी बौद्ध और जैन सिद्धान्तों का भी अपने ग्रन्थ में समावेश किया है। विष्णु के दस अवतारों में बुद्धदेव और चौबीस अवतारों में जैनों के आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव भी समाविष्ट हैं। ''कामये दुःख-तप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्'' यहाँ बुद्धदेव की वाणी मुखरित हो रही है। गीतगोविन्दकार जयदेव गाते हैं—''केशव धृत बुद्धशरीर जय जगदीश हरे''। प्रत्येक सनातनी धार्मिक कृत्यों के प्रारम्भ में संकल्प-वाक्य का उच्चारण करता हुआ कहता है—'बौद्धावतारे'। यदि कोई यह कहता है कि विष्णु के दस अवतारों में परिगणित बुद्धदेव बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध से भिन्न हैं, तो यह उस पर अपसंस्कृति का ही प्रभाव माना जायेगा।

भारतीय संस्कृति ने आज हिंसाप्रधान वैदिक कर्मकाण्ड को भी छोड़ दिया है और बौद्ध धर्म की उन उपासना-विधियों को भी, जिनके असंगत आचरण से बौद्ध धर्म में स्वयं ही विदेशी आक्रमण के आगे टिक सकने की शक्ति शेष नहीं रह गई थी। इसके विपरीत वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध और पौराणिक संस्कृति के संमिलित उत्कृष्ट उपादानों से बनी सनातनी संस्कृति एक हजार वर्ष की विपरीत परिस्थितियों का सामना करते हुए आज तक टिकी रही और आज स्वतन्त्रता की साँस ले रही है।

इन संकटपूर्ण घड़ियों में यह संस्कृति भारतीय संतों की अमृतमयी वाणी से अपनी जीवनी-शक्ति अर्जित करती रही है। सन्त कबीर, जायसी, अमीर खुसरो, रसखान और अनेकों सूफी सन्तों ने, अकबर महान् और दाराशिकोह जैसे स्वनामधन्य राजपुरुषों ने इस्लाम का भारतीयकरण करने में पूरा योगदान किया है। आगरा का ताजमहल हो या बीजापुर का गोलगुम्बद, इस्लामिक संस्कृति के साथ ये हमारी भावात्मक एकता के प्रतीक हैं। हिन्दू और मुसलमानों ने कन्धे से कन्धा मिलाकर भारतीय स्थापत्य कला, संगीत, चित्रकला आदि के विकास तथा

स्वातन्त्र्य-संग्राम का संचालन भी किया है। पाश्चात्य संस्कृति और विज्ञान का प्रभाव तो आज पूरे भारत में स्पष्ट ही परिलक्षित होता है।

इस प्रकार आज की भारतीय संस्कृति के अजस्त्र प्रवाह में वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध, पौराणिक, सन्त, इस्लाम, ईसाइयत धाराओं का जल मिलकर बह रहा है। इन सभी धाराओं के साथ सम्पूर्ण भारतीय जनमानस में भावात्मक एकता स्थापित होने के बाद ही अखण्ड भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त हो सकेगा और तभी देश में एक राष्ट्रीयता का विकास होगा।

संस्कृति की दो प्रकार की परिभाषाएँ की जाती हैं—एक व्यापक अर्थ में और दूसरी सीमित अर्थ में। पहले अर्थ में मानव के द्वारा निर्मित आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक विश्व का संस्कृति में समावेश किया जाता है, तो दूसरे में केवल मानव की भौतिक उन्नति का। भौतिक उन्नति का हम सभ्यता में समावेश करें, यही उचित लगता है। ''यूनान मिश्र रोमा सब मिट गये, जहाँ से'' मौलाना इकबाल की इस उक्ति में कथित देशों में ईरान की भी गिनती होनी चाहिए। भौगोलिक दृष्टि से आज भी ये सब देश विद्यमान हैं। इनकी समृद्ध सभ्यता के भौतिक अवशेष भी उपलब्ध होते हैं, किन्तु सांस्कृतिक अवसाद के कारण आज ये मिट से गये हैं। इनकी आध्यात्मिक मृत्यु हो गई है। इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि संस्कृति में आध्यात्मिक संस्कार प्रबल होते हैं और सभ्यता में भौतिक वैभव की चकाचौंध। आध्यात्मिकता के अभाव में हम सभ्यता को सुरक्षित नहीं रख सकते। वह तो संग्रहालयों की वस्तु बन जाती है और विजेता अपनी विजयश्री के प्रदर्शन के लिए यह सब करता है।

वर्तमान समय में भारतीय, चीनी, यूरोपीय और इस्लामिक आदि ऐसी संस्कृतियाँ विद्यमान हैं, जिनकी पूर्व-परम्परा सैकड़ों-हजारों वर्षों की है। इन संस्कृतियों की वृद्धि निकटवर्ती पारस्परिक साहचर्य और सहयोग से नहीं हुई। इनका प्रारम्भिक विकास पृथक् पृथक् रूप से हुआ है। अतएव इनमें विरोधी विशेषताओं का निर्माण हुआ। चीनी संस्कृति पर भी प्रथम सहस्राब्दी के बौद्ध संस्कारों की अपेक्षा द्वितीय सहस्राब्दी के इस्लामिक आक्रामकता के संस्कार अधिक हावी हो गये हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इनमें विरोधी विशेषताओं का निर्माण हुआ। इन विशेषताओं के कारण ये संस्कृतियाँ परस्पर सामंजस्य के साथ निर्वाह नहीं कर पा रही हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण स्वतन्त्र अहंकारों और अभिनिवेशों का निर्माण हुआ है, जो विश्व को विग्रह के रास्ते पर ही ले जाते हैं।

भारतीय संस्कृति संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। इस संस्कृति की वृद्धि करने में अनेकों मानव-वंश प्राचीन काल से संलग्न रहे हैं।

वर्तमान समय में भी यह निरन्तर विकास के पथ पर अग्रसर है। कतिपय परिवर्तन तथा क्रान्तियाँ इसके विकास की उज्ज्वल कड़ियाँ बनी हैं। संसार की विविध सभ्यताएँ इस संस्कृति में घुल-मिल कर एक हुई हैं। अन्य संस्कृतियों ने कुछ अंशों में अगर इसे उपकृत किया है, तो इससे इन्होंने बहुत कुछ पाया भी है। वास्तव में भारतीय संस्कृति विश्व-संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

भारतवर्ष में विभिन्न जाति, धर्म और भावनाओं के अनुयायी जन बसते हैं। हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि धर्म तो इसी धरा की उपज हैं। ईसामसीह की मृत्यु के बाद प्राचीन यहूदी धर्म के अनुयायियों ने यहाँ शरण ली थी। वैदिक धर्म के सहोदर जरथुष्ट्र धर्म के अनुयायी इस्लाम से प्रताड़ित होकर यहाँ शरण लेने आए थे। यूरोपियन आक्रान्ताओं के साथ ख्रीष्ट धर्म यहाँ आया, यह तो हाल की बात है। शताब्दियों पूर्व भी विजातीय व्यक्तियों से प्रताड़ित होकर ख्रीष्ट धर्म यहाँ आया था और केरल में आज भी उस सम्प्रदाय के अनुयायी शान्तिपूर्वक निवास कर रहे हैं।

भारत में दो तरह की दृष्टियों का साथ-साथ विकास हुआ है—एक दृष्टि है ब्रह्मसूत्र की, जिसमें वेद के सिवाय सबको नकार दिया गया है। दूसरी दृष्टि महाभारत और भगवद्गीता की है, जिसमें सांख्य और योग को ही अभिन्न नहीं बताया गया, अपितु उस समय प्रचलित सभी दृष्टियों में समन्वय स्थापित करने का भी स्तुत्य प्रयास किया गया है। भगवत्पाद शंकराचार्य ने पहली दृष्टि का समर्थन किया। जाने-अनजाने स्वामी दयानन्द ने भी अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद की पद्धति से ही अवैदिक मतों की समालोचना की, जबकि दक्षिण के शैव और वैष्णव सन्तों ने एवं उत्तर के सिद्धों, नाथों, संतों और गुरुओं ने दूसरी दृष्टि को श्रेयस्कर माना। आगम और तन्त्रशास्त्र की पृष्ठभूमि में ही यह सब कुछ हो सका। वे भगवान् बुद्ध और महावीर के सार्वभौम उपदेशों को स्वीकार करने में परहेज नहीं करते। वैष्णव और शैव आगमों ने इस ओर क्रान्तिकारी कदम उठाये। न जाने क्यों भारतीय समाज में यह दृष्टि धूमिल हो गई। बौद्ध दृष्टि के साथ समाज ने तन्त्रागमशास्त्र की समन्वय-प्रधान दृष्टि को भी नकार दिया। आज हम वैदिक और तान्त्रिक दोनों धर्मों की अच्छाइयों को भुला बैठे हैं और कालक्रम से प्रविष्ट उनकी बुराइयों से चिपके हुए हैं। तान्त्रिक रहस्यवाद फिर समाज को भ्रमित करने में लगा है और वैदिक दृष्टिकोण अपने संकीर्ण घेरे से हमें बाहर नहीं निकलने दे रहा। इन दोषों से मुक्ति हम तभी पा सकते हैं, जब वैदिक और तान्त्रिक दृष्टि में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया जाय।

आजकल विभिन्न धर्मों के प्रचारक भारतीय संस्कृति और धर्म पर मिथ्या आरोप लगाकर उसको धूलि-धूसरित कर देना चाहते हैं और वर्तमान राजनेतागण

एवं बुद्धिजीवी वर्ग इस प्रचार से अभिभूत से हो गये हैं, इसी कारण प्रजा पर भी इस दुष्प्रचार के बादल मंडराने लगे हैं। ब्राह्मणवाद, मनुवाद जैसे शब्दों का उन अर्थों में प्रयोग होने लगा है, जिनको स्वयं भारतीय संस्कृति ने आज से कम से कम एक हजार वर्ष पहले अवश्य ही नकार दिया था। इस दुष्प्रचार में कुछ प्रबुद्ध भारतीय सुधारवादियों का भी कम हाथ नहीं है, जिन्होंने धर्म, दर्शन और संस्कृति के क्षेत्र में एक लंबी विकासवादी परम्परा को नकार दिया।

महाभारत में ही नहीं, प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रन्थों में भी पांचरात्र धर्म तथा कृष्ण-बलदेव आदि का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में अहिंसक पांचरात्र सत्र का विधान है। पांचरात्र धर्म के अनुयायी राजा वसु उपरिचर ने अहिंसक सत्र का अनुष्ठान किया था। जैन-ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख मिलता है। यजुर्वेद के शतरुद्रिय अध्याय में पशुपति शिव शूद्र तथा अतिशूद्र समझे जाने वाले लोगों के भी देवता हैं। ये पांचरात्र और पाशुपत मत ही वैष्णव और शैव धर्म के मूल स्रोत हैं। बौद्ध और जैन धर्म से भी पहले भारतीय संस्कृति की इस धारा ने वैदिक धर्म में आवश्यक संशोधन-परिवर्तन का प्रयत्न किया सही, तो भी इसने कभी भी बौद्ध और जैन दृष्टि के समान वैदिक धर्म की सर्वथा अवहेलना नहीं की। इस धारा का वाङ्मय ही आगमशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। छान्दोग्य जैसे प्राचीन उपनिषदों में एकायन विद्या के नाम से और तैत्तिरीया-रण्यक में पंचब्रह्म मन्त्रों के रूप में इनकी स्थिति का आकलन किया जा सकता है।

आगमों में ही नहीं, भगवद्गीता (९.३२) में भी स्त्री, वैश्य और शूद्र को भी मोक्ष का अधिकारी माना गया है और तुलाधार वैश्य,[६] पतिव्रता ब्राह्मणी, धर्मव्याध के कथानकों के माध्यम से महाभारत ने इनका समर्थन किया है। सिद्धान्तवादी शैवागमों में मुकुटसंहिता का विशेष स्थान है। वहाँ के वचनों को उद्धृत कर कश्मीर (उत्तर) के महान् शिवाचार्य अभिनवगुप्त ने और दक्षिण (चोल देश) के महेश्वरानन्द[७] ने समान विचार प्रकट किये हैं। मुकुटसंहिता का कहना है कि मायावी द्विज परित्याज्य है और सरल स्वभाव का म्लेच्छ संग्राह्य। ऐसा म्लेच्छ शिव को प्रिय है, चारों वेदों का अध्येता अहंकारी ब्राह्मण नहीं। ब्राह्मण पाप करता है और शूद्र सुकृत, ऐसी स्थिति में धर्म और अधर्म के प्रति जाति की कोई भूमिका नहीं हो सकती। कालपाद्य संहिता में श्वपचों (चांडालों) को भी दीक्षा का अधिकार दिया गया है। पारमेश्वरागम (१३.२६-२८; १७.८३-८५) में शिवभक्तों के आठ गुण चर्चित हैं। वहाँ कहा गया है कि ये गुण यदि म्लेच्छ में भी विद्यमान हैं, तो वह शिव के समान है। महाभारत, आगमशास्त्र आदि के समान ही पुराणों में भी इस तरह के वचन पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

इतना सब होते हुए भी ब्राह्मणवाद और मनुवाद को लेकर भारतीय संस्कृति पर अनर्गल आक्षेप किये जाते हैं। सेमेटिक धर्मों की यह प्रवृत्ति है कि वे किसी वाद या ग्रन्थ को या तो पूरी तरह से स्वीकार करते हैं अथवा नकार देते हैं। ब्राह्मणवाद और मनुस्मृति के विषय में उनकी दूसरी दृष्टि काम कर रही है। इसके विपरीत भारतीय दृष्टि सत्यान्वेषिणी है। "भारतीय संस्कृति के नये आयाम"[८] शीर्षक ग्रन्थ में हमने संस्कृति-संगम प्रथम, संस्कृति-संगम द्वितीय तथा सुधारवादी आन्दोलन के रूप में भारतीय संस्कृति के व्यावहारिक पक्ष का विश्लेषण किया है कि यह संस्कृति उपादेय तत्त्वों के ग्रहण में और कालातीत तत्त्वों के त्याग में निरन्तर सचेष्ट रही है। वर्णाश्रम व्यवस्था में प्रविष्ट ज्येष्ठ-कनिष्ठ भाव को इसने कभी का नकार दिया है। ब्राह्मण जाति का वर्चस्व यहाँ समाप्त हो चुका है और उसका स्थान धर्माचार्यों ने ले लिया है।

जिस मनुस्मृति की आजकल के तथाकथित बुद्धिजीवी बिना विचारे निरन्तर निन्दा करते रहते हैं, वह स्मृति नारियों के विषय में क्या कहती है, कृपया देखिए—"जो कुटुम्ब कल्याण से संपन्न होना चाहता है, तो पिता, भाई, पति, देवर आदि सबको नारियों का आदर करना चाहिये, वस्त्र एवं अलंकार आदि से उन्हें सत्कृत करना चाहिये। जिस कुटुम्ब में नारियों का सत्कार होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं। इसके विपरीत इनका अपमान होने पर गृहस्थी के सारे कार्य अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। जिस कुटुम्ब में नारियाँ दुःखी रहती हैं, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। इसके विपरीत जहाँ ये सुखी रहती हैं, उसकी निरन्तर वृद्धि होती रहती है। जिस कुल में नारियाँ अपमानित होकर उसके प्रति आक्रोश प्रकट करती हैं, उस परिवार का कृत्या के आक्रमण के समान सब कुछ नष्ट हो जाता है। इसलिए हर-एक कुटुम्बी को अपनी समृद्धि के लिए चाहिए कि वह आदर के और उत्सवों के शुभ अवसरों पर नारियों का भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि से अवश्य सत्कार करे। जिस कुल में पति यदि पत्नी से सन्तुष्ट है और पत्नी पति से सन्तुष्ट है, उसी कुल में निश्चित रूप से नित्य कल्याण बना रहता है। यदि स्त्री वस्त्रालंकार से अलंकृत हो पुरुष को प्रसन्न नहीं रख सकती, तो पुरुष की उदासीनता के कारण वह कुल सन्तान से वंचित हो जाता है। स्त्री के प्रसन्न रहने से उसके वस्त्रालंकार आदि से सुशोभित रहने पर समस्त कुल में प्रसन्नता छाई रहती है" (३.५५-६२)। हम समझते हैं, इस पर किसी टिप्पणी की अपेक्षा नहीं है।

भारत में नारी को अर्धांगिनी माना जाता है। उसके बिना कोई शुभ कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। अश्वमेध यज्ञ करने के लिए अयोध्या के राजा राम को सोने की सीता का निर्माण कराना पड़ा था। यह भी ध्यान देने की बात है कि अर्धांगिनी की स्थिति धार्मिक कृत्यों के अवसर पर दाहिनी तरफ निर्धारित है।

धर्मान्तरण की प्रक्रिया में लगे हुए सज्जनों के सामने पारमेश्वरागम (१७.२०-२१) के इस विधान को प्रस्तुत किया जा सकता है कि स्त्री शैवधर्म का अनुसरण करती है और पुरुष वैष्णव धर्म का अनुयायी है अथवा पुरुष शैव है और स्त्री वैष्णव धर्म में दीक्षित है, दोनों ही स्थितियों में इन पर भगवान् की प्रीति समान बनी रहती है, अर्थात् ये पति-पत्नी यावज्जीवन सुखपूर्वक रहते हैं। इसके स्थान पर आप आजकल के धर्म परिवर्तन की स्थिति को देखिए। ये एक-दूसरे के धर्म और देवताओं को ही लांछित नहीं करते, राष्ट्र से भी विश्वासघात करने को उतारू रहते हैं।

धर्म ही नहीं, भारतीय संस्कृति को भी मटियामेट कर देने पर उतारू ऐसे ही लोग 'भगवाकरण' के बहाने एक हजार वर्ष पहले की समस्त भारतीय उपलब्धियों को नकार देना चाहते हैं, जिनकी हमने ऊपर चर्चा की है। ऐसे महानुभावों का कहना है कि आर्यों ने बाहर से आकर इस देश पर कब्जा कर लिया और यहाँ के मूल निवासियों को पद-दलित कर दिया। अब समय आ गया है कि हम इन पुराने आक्रामकों के समस्त चिह्नों को मिटा कर नये समाज और संस्कृति की यहाँ स्थापना करें। इसके लिए 'भगवाकरण' का नागपाश इन्होंने छोड़ा है और हिन्दूकरण के साथ इसे जोड़ दिया है। इनकी दृष्टि में भारतीयकरण का कोई मूल्य नहीं है। ये पूरी दुनिया को संघर्ष की ज्वाला में झोंक देना चाहते हैं।

इन सब विषयों की चर्चा हमें यहाँ सोद्देश्य करनी पड़ी है। भट्ट कुमारिल ने कहा है कि आपस में अत्यधिक दोष दृष्टि नहीं रखनी चाहिए, क्योंकि ऐसी मनःस्थिति में अविद्यमान दोष भी दिखाई देने लगते हैं। इसके विपरीत धर्मान्तरण की प्रक्रिया में आकण्ठ डूबे व्यक्ति अन्य धर्मों में जान-बूझ कर अविद्यमान दोषों का भी इसी लिए प्रचार करते हैं कि इसके माध्यम से साधारण जन में भ्रम की स्थिति पैदा की जाय। आजकल भारतीय संस्कृति पर अपसंस्कृतियों का जो आक्रमण हो रहा है, उसकी भी यही स्थिति है। उस भ्रमजाल का भेदन करने के लिए ही यहाँ हमें यह सब लिखना पड़ा है। यह देश का सौभाग्य है कि सर्वोच्च न्यायालय के एक शुभ निर्णय ने इस तरह की प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाया है। दुनिया के समस्त प्रबुद्ध वर्ग को भी यह सोचना है कि वे शान्ति चाहते या सतत संघर्ष। आज आवश्यकता तो इस बात की है कि सांस्कृतिक धरातल पर पूरे विश्व में एकता स्थापित हो।

भारतीय संस्कृति की सात धाराओं की ऊपर चर्चा हुई है। वहाँ हम तीसरे स्थान पर तन्त्रागमीय धारा को रखना चाहते हैं और यह बताना जरूरी समझते हैं कि उपनिषदों के साथ मिलकर यह आगमिक धारा पूरे तान्त्रिक एवं पौराणिक

वाङ्मय को और सन्त साहित्य को भी अपने में समेटती हुई भारतीय उदारवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती है। सन्तधारा को इनसे अलग मानना उचित नहीं है।

तन्त्रागमीय धारा ने बौद्ध एवं जैन धाराओं के समान वैदिक संस्कृति से ही अपने उपादान प्राप्त किये अथवा ऐतिहासिकों के द्वारा निर्धारित वेदपूर्व आर्येतर सभ्यता का भी इसको अवदान प्राप्त हुआ। इस विवाद में हम अभी नहीं पड़ना चाहते। इस विषय का सही निर्णय तो तभी किया जा सकता है, जब सिन्धु-घाटी में उपलब्ध लिपि को पढ़ने का निर्विवाद समाधान प्राप्त हो जाय। यों वैदिक साहित्य में भी तन्त्रागमीय संस्कृति, विशेषकर पांचरात्र और पाशुपत मत के उपादान बहुतायत से मिलते हैं और अनेक विद्वानों ने उन्हें दिखाया भी है। अन्तर इतना ही है कि इन्होंने पांचरात्र और पाशुपत शब्दों के स्थान पर वैष्णव एवं शैव शब्दों का प्रयोग किया है, जो उचित नहीं है। वस्तुतः ये दोनों शब्द परवर्ती हैं और ये पौराणिक संस्कृति की अभिव्यक्ति करते हैं।

पौराणिक साहित्य ने कृतान्तपंचक (सांख्य-योग-पांचरात्र-पाशुपत-वेदारण्यक) के अतिरिक्त जैन और बौद्ध विचारों का तथा साथ ही समय-समय पर प्रचलित हुए शाक्त, गाणपत्य, स्कान्द, सौर आदि मतों के सिद्धान्तों का भी समन्वय कर नवीन स्मार्त धर्म एवं समग्र भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा में महनीय योगदान किया है। इस दृष्टि से पुराणों का अध्ययन करने पर ही हम यहाँ के धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के क्रमिक विकास का सही मूल्यांकन कर सकते हैं। हमारे मत से न केवल पुराणों, अपितु साम्प्रदायिक उपनिषदों का भी इसी दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाना चाहिए। यही मानना उचित और तर्क-संगत भी प्रतीत होता है कि भारतीय संस्कृति के अविकल पावन प्रवाह में विभिन्न धाराओं के उद्गम के बाद ही उनको मूल धारा में मिलाने का प्रयत्न हुआ। अल्लोपनिषद् को हम इस प्रकार के उपक्रम की कड़ी मान सकते हैं।

तन्त्रागमीय उपासना में मानवमात्र को दीक्षा का अधिकार प्राप्त है। इसमें वर्ण या आश्रम प्रयुक्त कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इस दृष्टि से छान्दोग्य उपनिषद् की इस शास्त्र से बहुत समानता है। सत्यकाम जाबाल (४.४-८) महिदास ऐतरेय (३.१६) और रैक्व जानश्रुति (४.१-२) के उपाख्यान इस आगमिक दृष्टि का पोषण करते हैं। देवकीपुत्र कृष्ण और घोर आंगिरस का संवाद (३.१७.६) हमें पांचरात्र सिद्धान्तों का स्मरण कराते हैं। यहाँ (७.१-२) उल्लिखित एकायन विद्या पांचरात्र श्रुति का पर्याय नाम है। यहाँ (७.२६.२) वर्णित ध्रुवा स्मृति रामानुज वेदान्त में भक्ति और प्रपत्ति के रूप में व्याख्यात है। भगवद्गीता को पांचरात्र सिद्धान्त से अनुप्राणित माना जाता है। यहाँ (५.८) बताया गया है कि

विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, श्वान और चांडाल को पंडितजन समान दृष्टि से देखते हैं।

समाजवादी चिन्तक आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति के तीन प्रमुख तत्त्वों की चर्चा की है। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति का सबसे प्रमुख तत्त्व विभिन्न जीवन-प्रणालियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना है। इसकी दूसरी विशेषता नैतिक व्यवस्था की स्थापना तथा आचरण की शुद्धता है। अपना ध्यान रखते हुए दूसरे का भी ध्यान रखना इसका मूल मन्त्र है—''आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्''। इसका तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व विश्व-भावना है। ''आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति'' और ''वसुधैव कुटुम्बकम्' इसकी शिक्षा है। भारतीय संस्कृति के दो पहलू रहे हैं—एक व्यक्तिवादी तो दूसरा समष्टिवादी, अर्थात् विश्वजनीन। इन्हीं को हम व्यक्तिगत मानस और लोक मानस कह सकते हैं। इन उभयविध मानसों के परिष्कार के लिए हम सभी प्राचीन संस्कृतियों के कालातीत तत्त्वों के स्थान पर नूतन नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश कर एक समग्र विश्व संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं। ऊपर वर्णित भारतीय दृष्टि इसमें अवश्य सहायक हो सकती है।

इसी पद्धति से समस्त विश्व के सभी धर्मों और संस्कृतियों के इस तरह के उदात्त विचारों का आलोडन कर, अपने-अपने धर्म एवं संस्कृति की देश और काल के अनुरूप व्याख्या कर, उनके कालातीत तत्त्वों का परिहार एवं उपादेय तत्त्वों का संग्रह कर और उनमें परस्पर सामंजस्य बैठाकर हमें एक विश्व संस्कृति के निर्माण के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। इसके अभाव में परस्पर अविश्वास से ग्रस्त इस दुनियाँ में एकता स्थापित करना कठिन हो जायेगा।

भारतीय संस्कृति में, सनातन धर्म में षोडश संस्कार, वर्णाश्रम व्यवस्था एवं पुरुषार्थ चतुष्टय का विशिष्ट महत्त्व है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इन्हीं का परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। गौतम धर्मसूत्र, मृगेन्द्रागम तथा पुराणों में भी ४८ संस्कारों की चर्चा मिलती है। मनु (२.३६-३८) के अनुसार संस्कारों का विधान शरीर की शुद्धि के लिए किया गया है। इन संस्कारों से परिशुद्ध शरीर ब्रह्म के साक्षात्कार में समर्थ हो जाता है। ४८ संस्कारों में से अन्तिम आठ आत्मगुण के नाम से प्रसिद्ध हैं। द्वैतवाद के अनुसार जीवात्मा को परमात्मा का सांनिध्य दिलाने के लिए इनका विनियोग किया जाता है।

आगमशास्त्र में दीक्षा नामक संस्कार का विशेष महत्त्व है। दीक्षा का अधिकारी कौन है? इस विषय में विभिन्न पक्ष हैं, किन्तु अन्ततः यह सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया कि चांडाल को भी दीक्षा का अधिकार है। द्वैतवादी दर्शन इस सिद्धान्त को मान्यता देते हैं कि मोतियाबिन्द को हटाने के लिए जैसे वैद्य के

व्यापार की अपेक्षा रहती है, उसी तरह से आत्मा के स्वरूप को आवृत कर देने वाले मलों को हटाने के लिए दीक्षा नामक संस्कार की अपेक्षा है। व्यक्ति जिस धर्म में दीक्षित होता है, तदनुसार वह जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि कहलाने लगता है। कूर्मपुराण (१.३.९८) में वर्णित त्रिविध सम्प्रदायों की व्याख्या हम इसी पद्धति से कर सकते हैं। इसे यहाँ तथा अन्यत्र (वीरशैव मत) अत्याश्रमी व्यवस्था कहा गया है। सन्तों की दृष्टि के अनुसार मानव जाति में ज्येष्ठ-कनिष्ठ भाव को हम हटा दें, तो वर्णाश्रम व्यवस्था की सार्वभौमिकता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। विद्या, बल, व्यापार और सेवा में मानवता विभक्त है। इसी तरह ब्रह्मचर्य की नींव पर ही गृहस्थ, वानप्रस्थ (अपने-अपने धर्म के प्रचार के लिए समर्पित जन) और संन्यासी धर्म-मार्ग का अनुसरण कर सकता है। पूरे समाज के सुव्यवस्थित होने पर हम अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष को भी इसी धरती पर उतार सकते हैं।

टिप्पणियाँ

१. "एकशतमध्वर्युशाखा:, सहस्रवर्त्मा सामवेद:, एकविंशतिधा बाह्वृचम्, नवधाऽऽथर्वणो वेद:" (पस्पशाह्निक)।
२. तन्त्रयात्रा, रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी, सन् १९८२
३. सिद्धान्तप्रकाशिका के साथ इस ग्रन्थ का पुन: प्रकाशन किया गया है।
४. सिद्धान्तप्रकाशिका, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् १९९६
५. वैदिक धारा, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, तृतीय संस्करण, दिल्ली, सन् १९७०
   औपनिषद धारा, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९६६
६. इन सब कथानकों का संक्षिप्त परिचय "भारतीय संस्कृति के नये आयाम" (पृ० ७०-७२) में देखिए।
७. भारतीय संस्कृति के नये आयाम, पृ० ४०-५०, ७२-७३ देखिए।
८. भारतीय संस्कृति के नये आयाम, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय), नई दिल्ली, सन् १९८७



भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व

- संस्कार
- वर्णाश्रम व्यवस्था
- पुरुषार्थ-चतुष्टय

प्रथम परिच्छेद

षोडश संस्कार

मीमांसासूत्रकार महर्षि जैमिनि के—"संस्कारस्य तदर्थत्वाद् विद्यायां पुरुषश्रुतिः" (६.१.३५)—इस सूत्र में संस्कार शब्द उपनयन संस्कार के लिए प्रयुक्त हुआ है, ऐसा भारतरत्न पी०वी० काणे का कहना है। मीमांसाभाष्यकार शबर स्वामी ने संस्कार शब्द का अर्थ इस प्रकार बताया है—"संस्कारो नाम स भवति, यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य" (३.१.३)। अर्थात् संस्कार उसे कहते हैं, जिसके होने से पदार्थ में योग्यता का आधान हो जाता है। तन्त्रवार्तिक में संस्कार का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—"योग्यतां चादधाना क्रिया संस्कार इत्युच्यते"। अर्थात् संस्कार वे क्रियाएँ हैं, जो योग्यता प्रदान करती हैं। यह योग्यता दो प्रकार की होती है—पाप-मोचन से उत्पन्न योग्यता तथा नवीन गुणों से उत्पन्न योग्यता। संस्कारों से नवीन गुणों की उत्पत्ति होती है। वीरमित्रोदयकार ने इस सम्बन्ध में बताया है कि यह एक विलक्षण योग्यता है, जो शास्त्रविहित क्रियाओं से उत्पन्न होती है। यह योग्यता दो प्रकार की है—१. जिसके द्वारा व्यक्ति अन्य क्रियाओं के योग्य हो जाता है, जैसे उपनयन संस्कार से वेदाध्ययन की योग्यता मिल जाती है। २. जिन संस्कारों से व्यक्ति दोषमुक्त हो जाता है, जैसे जातकर्म संस्कार से व्यक्ति वीर्यगत एवं गर्भाशयगत दोषों से मुक्त हो जाता है।

दीक्षा संस्कार को लेकर आगमशास्त्र में प्रश्न उठाया गया है कि यह संस्कार शरीर का होता है या जाति का होता है या आत्मा का? वहाँ दीक्षा से आत्मा का संस्कार होता है, इस पक्ष का सयुक्तिक प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि दीक्षा संस्कार से आत्मगत मलों के दूर होने की बात वहाँ बताई गई है। इसी तरह हम प्रश्न उठा सकते हैं कि संस्कार द्रव्य का होता है, शरीर का होता है या आत्मा का? इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि यज्ञीय भूमि, पात्र, कुण्ड, अग्नि, घृत आदि का तथा आगमीय शिला, काष्ठ, पट, मण्डप, मण्डल, स्थण्डिल आदि का संस्कार पहले विभाग में आता है। मीमांसाशास्त्र तथा आगमों के क्रियापाद में वर्णित इस प्रकार के संस्कारों का किसी न किसी द्रव्य, स्थान आदि से संबन्ध है। मनुस्मृति (२.२६) आदि धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में निषेक (गर्भाधान) आदि संस्कारों से शरीर की शुद्धि को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। दीक्षा आत्मगत संस्कार है। इसकी सूचना अभी दी गई है। इस प्रकार

शास्त्रभेद से भारतीय वाङ्मय में द्रव्य, शरीर और आत्मा तीनों प्रकार के संस्कारों का विधान मिल जाता है।

हम यहाँ सूत्र-साहित्य तथा धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में वर्णित शरीरगत संस्कारों का ही प्रधान रूप से वर्णन करेंगे। मनुस्मृति (३.१६) निर्दिष्ट निषेकादिश्मशानान्त (गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त) सभी संस्कार शरीर से ही संबद्ध हैं। इन संस्कारों के विवेचन के प्रसंग में हम निम्न विषयों पर विचार करेंगे—संस्कारों का उद्देश्य, संस्कारों की कोटियाँ, संस्कारों की संख्या और प्रत्येक संस्कार की विधि।

संस्कारों का उद्देश्य

मनुस्मृति (२.२६-२८) के अनुसार द्विजातियों को इहलोक और परलोक में पवित्र करने वाले गर्भाधान आदि शरीरगत संस्कारों को वेदोक्त पवित्र मन्त्रों की सहायता से करना चाहिए। गर्भ शुद्ध करने वाले हवनों से और जातकर्म, मुण्डन, यज्ञोपवीत आदि संस्कारों से द्विजातियों के गर्भ और बीज के दोष मिट जाते हैं। वेदाध्ययन, व्रत, होम, पूजा, देव-ऋषि-पितृ तर्पण, पुत्रोत्पत्ति, महायज्ञों और यज्ञों के अनुष्ठान से यह मानव-शरीर ब्रह्मप्राप्ति की योग्यता अर्जित कर लेता है। याज्ञवल्क्य (१.१३) का मत है कि संस्कारों को करने से बीज-गर्भ से उत्पन्न दोष दूर हो जाते हैं। निबन्धकारों और व्याख्याकारों ने मनु एवं याज्ञवल्क्य की इन बातों का विस्तार किया है। जब कोई व्यक्ति गर्भाधान की विधि के अनुसार संभोग करता है, तो वह अपनी पत्नी में वेदाध्ययन के योग्य भ्रूण स्थापित करता है। पुंसवन संस्कार के द्वारा वह गर्भ को पुंस्त्व प्रदान करता है। सीमन्तोन्नयन संस्कार के द्वारा माता-पिता से उत्पन्न दोष दूर करता है। बीज, रक्त एवं भ्रूण से उत्पन्न दोष जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकरण एवं समावर्तन से दूर होते हैं। इन आठ प्रकार के संस्कारों से, अर्थात् गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकरण एवं समावर्तन से पवित्रता की उत्पत्ति होती है।

इन संस्कारों के उद्देश्य अनेक थे। उपनयन जैसे संस्कारों का उद्देश्य आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक भी था। इससे गुणसम्पन्न व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित होता था, वेदाध्ययन का मार्ग खुलता था। इन संस्कारों का मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी था। संस्कार करने वाला व्यक्ति एक नये जीवन का आरम्भ करता था, वह नियमों के पालन के लिए वचनबद्ध होता था। नामकरण, अन्नप्राशन एवं निष्क्रमण जैसे संस्कारों का लौकिक महत्त्व भी था। इनसे प्यार, स्नेह और उत्सव मनाने की मनोवृत्ति की झलक भी मिलती है। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन जैसे संस्कारों का महत्त्व रहस्यात्मक एवं प्रतीकात्मक था। विवाह-संस्कार का

उद्देश्य दो व्यक्तियों को आत्मनिग्रह, आत्मत्याग एवं परस्पर सहयोग की शिक्षा देकर समाज को सुव्यवस्थित करना था।

संस्कारों की कोटियाँ

सूत्रकारों और स्मृतिकारों के अनुसार संस्कारों की दो कोटियाँ हैं—ब्राह्म एवं दैव। गर्भाधान जैसे संस्कार, जो विशेष रूप से स्मृतियों में वर्णित हैं, ब्राह्म कहे जाते हैं। इनको सम्पादित करने वाले लोग ऋषियों के समकक्ष आ जाते हैं। पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ, सोमयज्ञ आदि दैव संस्कार कहे जाते हैं। गौतम धर्मसूत्र, शैव-शाक्त आगम तथा कुछ पुराणों में भी ४८ संस्कारों का वर्णन मिलता है। इनमें ब्राह्म और दैव दोनों ही प्रकार के संस्कार समाविष्ट हैं। यहाँ आत्मगुण के नाम से वर्णित अन्तिम आठ संस्कार आत्मगत हैं, शरीरगत नहीं।

संस्कारों की संख्या

संस्कारों की संख्या के विषय में सूत्रकारों और स्मृतिकारों में पर्याप्त मतभेद है। पारस्करगृह्यसूत्र के अनुसार १२, बौधायनगृह्यसूत्र में १३, आश्वलायनगृह्यसूत्र में ११, वाराहगृह्यसूत्र में १३, वैखानसगृह्यसूत्र में १८, नारदीय-संहिता में २० और गौतमीयधर्मसूत्र में ४० संस्कार वर्णित हैं। यहाँ वर्णित अन्तिम आत्मगत आठ गुणों का इसमें समावेश नहीं है। मनुस्मृति में १३ और व्यासस्मृति में १६ संस्कार निर्दिष्ट हैं। इन सबकी नामावली पांचरात्रागम (पृ० ३१४-३१६) देखी जा सकती है। नारदीयसंहिता में वर्णित संस्कारों का स्वरूप भी वहाँ प्रदर्शित है (पृ० ३१६-३२०)। संस्कारों की संख्या के विषय में विविध मतों का उल्लेख एवं उनका संक्षिप्त परिचय 'धर्मशास्त्र का इतिहास' (पृ० १७७-१७९) में भी देखा जा सकता है। हम यहाँ गौतमधर्मसूत्र में वर्णित ४८ संस्कारों का संक्षिप्त परिचय देकर केवल आजकल के लोकाचार में मान्य १६ संस्कारों का ही विस्तृत परिचय देंगे। इससे पहले इन संस्कारों का सभी वर्णों से कैसा सम्बन्ध है और आधुनिक समय में इनके विधि-विधानों की क्या स्थिति है ? इस पर विचार करेंगे।

संस्कार एवं वर्ण

द्विजातियों में गर्भाधान से लेकर उपनयन तक के संस्कार अनिवार्य माने गये हैं। समावर्तन एवं विवाह-संस्कार अनिवार्य नहीं हैं, क्योंकि कोई व्यक्ति छात्र-जीवन के उपरान्त सीधे संन्यासी भी हो सकता है। क्लीब (नपुंसक) के लिए इन संस्कारों की आवश्यकता नहीं मानी गई है।

क्या इन संस्कारों का विधान शूद्रों के लिए भी है? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रों में विधान है कि शूद्र बिना वैदिक मन्त्रों के गर्भाधान, पुंसवन,

सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, कर्णवेध एवं विवाह नामक दस संस्कार कर सकते हैं। मनुस्मृति (२.६६-६७) का कहना है कि स्त्रियों के लिए भी शरीर की शुद्धि के प्रयोजक इन संस्कारों की यथासमय बिना मन्त्रोच्चार के आवृत्ति की जाती है। उपनयन के स्थान पर उनके विवाह-संस्कार का विधान वैदिक रीति से किया जाता है। स्त्रियों के लिए पति-सेवा ही गुरुकुलवास और पारिवारिक कार्य ही अग्नि की सेवा मानी जाती है। अपरार्क के अनुसार गर्भाधान से चौलकर्म तक के आठ संस्कार सभी वर्णों के लिए मान्य हैं। अन्यत्र शूद्रों के लिए केवल जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म एवं विवाह नामक छः संस्कार विहित हैं। विवाह के उपरान्त इनको देवता, अतिथि, सेवक, पितृगण एवं आत्मा की तृप्ति के सम्पादक कार्यों को करने का अधिकार भी दिया गया है (मनु० २.७२)। ब्रह्मपुराण के अनुसार शूद्रों के लिए केवल विवाह संस्कार मान्य है। शूद्र को वैदिक मन्त्रों के स्थान पर पौराणिक मन्त्रों के उच्चारण की अनुमति दी गई है। सत्-शूद्र और असत्-शूद्र के रूप में भी इनको विभाजित किया गया है। वैष्णव आगमों में मद्यपान से वर्जित वंश में उत्पन्न शूद्रों को सत्-शूद्र माना गया है। विभिन्न स्थानों में प्रचलित मान्यताओं को भी धर्मशास्त्रों ने स्वीकार किया है।

संस्कारों की वर्तमान स्थिति

आजकल गर्भाधान, उपनयन एवं विवाह—इन तीन संस्कारों को छोड़कर अन्य संस्कार प्रायः नहीं किये जाते। आश्चर्य की बात यह है कि ब्राह्मण लोग भी इन्हें छोड़ते जा रहे हैं। अब कहीं-कहीं गर्भाधान भी त्यागा जा चुका है। प्रतीक के रूप में वधू के ससुराल आने पर प्रथम मासिक स्राव के चौथे दिन चावल, गरी का गोला और पाँच तरह के फलों से उसकी गोद भरी जाती है। नामकरण एवं अन्नप्राशन संस्कार मनाये जाते हैं, किन्तु मन्त्रोच्चार एवं पुरोहित के बिना ही ये पूरे कर लिए जाते हैं। निष्क्रमण संस्कार अब नदी-पूजन या देव-पूजन तक सीमित हो गया है। किसी-किसी मन्दिर में जाकर चौलकर्म कर लिया जाता है। अनेक देव-देवी मन्दिरों में सामूहिक उपनयन संस्कार होने लगे हैं और अब तो विवाह के अवसर पर ही उपनयन भी होने लगा है। समावर्तन संस्कार अब उपनयन के तत्काल बाद होने लगा है। किसी संस्कार के छूट जाने पर क्या किया जाय? इस विषय में तीन पक्ष हैं—एक के अनुसार छूटा हुआ संस्कार पुनः नहीं किया जाता, दूसरा मत है कि सभी छूटे हुए संस्कार अगले संस्कार के साथ किये जा सकते हैं, तीसरे मत में छोड़ा हुआ चौलकर्म उपनयन के साथ सम्पादित किया जा सकता है। यह रीति अब उपनयन के साथ भी चालू हो गई है कि समय से उपनयन के न होने पर विवाह के साथ उसे किया जाता है। किसी

संस्कार के छूट जाने पर धर्मशास्त्रों में प्रायश्चित्त का विधान मिलता है, किन्तु इसकी जानकारी आजकल किसी को है ही नहीं, और न कोई अब इसकी चर्चा ही करता है। लोगों ने उपनयन और विवाह के अतिरिक्त अन्य संस्कारों को सविधि करना प्राय: छोड़ दिया है। चौलकर्म, सीमन्त जैसे संस्कारों का अनुष्ठान प्रतीकात्मक पद्धति से अवश्य किया जाता है।

संस्कार-पद्धति

सूत्रग्रन्थों, स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थों में संस्कारों से संबद्ध पर्याप्त सामग्री मिलती है। निबन्ध-ग्रन्थों में रघुनन्दन का संस्कारतत्त्व, नीलकण्ठ का संस्कारमयूख, मित्रमिश्र का संस्कारप्रकाश, अनन्तदेव का संस्कारकौस्तुभ तथा गोपीनाथ का संस्काररत्नमाला जैसे ग्रन्थ अति प्रसिद्ध हैं। हम संस्कारों का परिचय देने से पहले होम, गणपति-पूजन, मातृका-पूजन, नान्दी श्राद्ध जैसे विषयों का परिचय दे देना जरूरी समझते हैं, जिनका सम्बन्ध प्रत्येक संस्कार के साथ है।

होम (हवन)

याग और होम पर्यायवाची शब्द जैसे लगते हैं, किन्तु इनके अन्तर को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। सात्वतसंहिता के भाष्यकार अलशिंग भट्ट का कहना है कि बिम्ब (मूर्ति) आदि में भगवान् का पूजन करना **याग** है और वह्नि को घृत आदि की आहुति से तृप्त करना **होम**। हमारे यहाँ बहुत-सी धार्मिक विधियों और कृत्यों में होम आवश्यक माना गया है। यह बात कुछ संस्कारों पर भी लागू होती है। म०म० पी०वी० काणे महोदय ने अपने ग्रन्थ में संक्षेप में इसकी पद्धति बताई है। कुशकण्डिका के नाम से प्रसिद्ध उसका स्वरूप यहाँ दिया जा रहा है।

जहाँ हवन करना हो, वहाँ एक हाथ की लम्बाई-चौड़ाई में भूमि को मिट्टी या बालू से कुछ ऊँचा उठाकर गोबर से लीप देना चाहिए। इसे स्थण्डिल कहते हैं। इसके उपरान्त हवन करने वाले को स्थण्डिल पर छ: रेखाएँ खीचनी चाहिए, जिनमें एक स्थण्डिल के उस भाग से जहाँ अग्नि रखी जाती है, पश्चिम की तरफ हो, किन्तु वह उत्तर की ओर घूमी हुई होनी चाहिए। दो पूर्व की ओर, किन्तु पहली रेखा के दोनों छोरों पर अलग-अलग। तीन दोनों के मध्य में। इसके उपरान्त पवित्र स्थण्डिल पर जल छिड़कना चाहिए, उस पर अग्नि रखनी चाहिए, दो या तीन समिधाएँ भी अग्नि पर रख देनी चाहिए। इसके उपरान्त परिसमूहन (अग्नि की चारों तरफ सफाई) करना चाहिए। तब परिस्तरण करना चाहिए, अर्थात् चारों तरफ पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में कुश बिछा देना चाहिए। परिसमूहन, परिस्तरण आदि सभी कृत्य उत्तर में ही समाप्त होने चाहिए। इसके उपरान्त हवन करने वाले को अग्नि के चतुर्दिक् थोड़ा जल छिड़कना चाहिए।

अग्नि के संस्कार के उपरान्त आज्य (घृत) को पवित्र किया जाता है। विना नोक टूटे वितस्ति (बित्ता) प्रमाण दो कुशों को लेकर खुले हाथ से आज्य को पवित्र करना चाहिए। इसके लिए 'देवस्य त्वा सवितुः' मन्त्र का एक बार ऊँचे स्वर में और दो बार मन ही मन उच्चारण किया जाता है। कुश के परिस्तरण का अग्नि के चतुर्दिक् रखना आज्य होम में हो भी सकता है और नहीं भी। उसी प्रकार पाक यज्ञों में दो आज्य-अंश दिये भी जा सकते हैं और नहीं भी। सभी पाक यज्ञों में ब्रह्मा का पुरोहित रखना वैकल्पिक है। तब हवन करने वाला कहता है—'इस देवता को स्वाहा'। जब किसी विशिष्ट देवता का निर्देश न हो, तो वहाँ अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, विश्वेदेव एवं ब्रह्मा हवन-योग्य मान लिए जाते हैं। अन्त में स्विष्टकृत् अग्नि को आहुति दी जाती है।

आजकल इसके स्थान पर यह सरल पद्धति अपनाई जाती है कि स्थण्डिल पर पानी छिड़ककर उसके ऊपर अग्नि रखी जाती है और संस्कारों के अनुसार अग्नि के विभिन्न नामों का उच्चारण किया जाता है। जैसे उपनयन की अग्नि समुद्भव और विवाह की योजक कही जाती है। तब ईंधन पर पवित्र जल छिड़ककर उसे अग्नि पर रखा जाता है और उसे ज्वाला में परिवर्तित कर प्रार्थना की जाती है—'अग्ने वैश्वानर मम संमुखो वरदो भव'।

जिस प्रकार अधिकांश गृह्य-कृत्यों में होम आवश्यक माना जाता है, उसी प्रकार प्रायः सभी कृत्यों में कुछ बातें एक-सी पाई जाती हैं। आचमन, प्राणायाम, देश-काल संकीर्तन एवं संकल्प सबमें पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त गणपति-पूजन, पुण्याहवाचन, मातृका-पूजन एवं नान्दी श्राद्ध का भी विधान है। सभी प्रकार के कृत्यों में इनका कर्ता सर्वप्रथम स्नान करता है, शिखा बाँधता है, थोड़े से स्थान को गोबर से लिपवा कर उस पर रंगोली बनवाता है। यहाँ पानी से भरे दो मंगल-कलश रखे जाते हैं, जो ढक्कन से एवं वस्त्र, माल्य आदि से अलंकृत रहते हैं। अन्य आवश्यक पूजा-सामग्री स्थान के उत्तर में रखी जाती है। दो लकड़ी के पीढ़े पश्चिम दिशा में रख दिये जाते हैं, जिनमें से एक पर कर्ता पूर्वाभिमुख बैठता है और दूसरे पर दाहिनी ओर उसकी पत्नी बैठती है। यदि पुत्र के लिए कृत्य किया जा रहा हो, तो पति पत्नी की दाहिनी ओर बैठता है। पत्नी से दक्षिण थोड़ी दूर हट कर ब्राह्मण लोग उत्तराभिमुख बैठते हैं। सभी संस्कार एवं कृत्य किसी पूर्व निश्चित शुभ बेला में ही सम्पन्न होते हैं।

गणपति-पूजन, पुण्याहवाचन और मातृका-पूजन का स्वरूप 'धर्मशास्त्र०' (भा० १, पृ० १८५-१८७) में देखा जा सकता है। आजकल इन सबको एक-साथ मिलाकर ग्रह-शान्ति की पद्धति प्रचलित है।

ग्रह-शान्ति

याज्ञवल्क्यस्मृति (१.२९५-३०८) में इस विषय की चर्चा मिलती है। वहाँ कहा गया है कि समृद्धि के लिए, आपत्तियाँ दूर करने के लिए, अच्छी वर्षा के लिए, दीर्घायु एवं स्वास्थ्यलाभ तथा शत्रुनाश के लिए ग्रह-यज्ञ करना चाहिए। उन्होंने नौ ग्रहों—सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु एवं केतु और उनकी आकृतियाँ बनाने के लिए ये पदार्थ बताये हैं—ताम्र, स्फटिक, लाल चन्दन, सोना (बुध और बृहस्पति), चाँदी, लोहा, सीसा एवं काँसा। ये आकृतियाँ पदार्थों के रंगों से भी कपड़े पर बनाई जाती हैं या यों ही पृथिवी पर वृत्ताकार एवं रंगयुक्त बनाई जाती हैं। इन्हें पुष्प, वस्त्र चढ़ाये जाते हैं, जिनके रंग ग्रहों के रंग के होते हैं। सुगंधित पदार्थ, धूप, गुग्गुल आदि चढ़ाये जाते हैं और वेदों के मन्त्रों का उच्चारण करते हुए अग्नि में पके भोजन की आहुतियाँ दी जाती हैं। नौ ग्रहों के लिए क्रमशः इन वृक्षों की समिधा होनी चाहिए—अर्क, पलाश, खदिर, अपामार्ग, पिप्पल, उदुम्बर, शमी, दूर्वा एवं कुश। घृत, मधु, दही और दूध से लिपटी प्रत्येक की १०८ या २८ समिधाएँ अग्नि में डाली जानी चाहिए। ग्रह-यज्ञ के अवसर पर ब्राह्मणों को जो भोजन कराया जाता है, वह निम्न प्रकार का होता है—गुड़मिश्रित चावल, दूध में पकाया गया चावल, हविष्य भोजन (ऋष्यन्न), दूध में पकाया साठी चावल, दही-भात, घृतमिश्रित चावल, पिसे हुए तिल में मिश्रित चावल, चावलमिश्रित दाल, कई रंगों के चावल। दक्षिणा के रूप में निम्न वस्तुएँ दी जाती हैं—दुधारु गाय, शंख, बैल, सोना, वस्त्र, श्वेत अश्व, काली गाय, लोहे का अस्त्र एवं बकरी। याज्ञवल्क्य (१.३०८) का कहना है कि राजाओं का उत्कर्षापकर्ष एवं संसार का अस्तित्व एवं नाश ग्रहों पर आधारित है, अतः ग्रहों की जितनी पूजा हो सके, की जानी चाहिए। आजकल धर्मसिन्धु के नियमों के अनुसार ग्रह-शान्ति की जाती है।

नान्दी श्राद्ध

नान्दी श्राद्ध एवं वृद्धि श्राद्ध शब्द पर्यायवाची हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति (१.२५०) में बताया गया है कि वृद्धि (शुभावसर, यथा पुत्रोत्पत्ति) के अवसर पर नान्दीमुख पितरों को पूजित करना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि नान्दी श्राद्ध और वृद्धि श्राद्ध पर्यायवाची शब्द हैं। आभ्युदयिक श्राद्ध के रूप में भी हम इसे पहिचान सकते हैं। निम्न अवसरों पर यह श्राद्ध किया जाता है—कन्या एवं पुत्र के विवाह के अवसर पर, नये गृह-प्रवेश पर, नामकरण संस्कार पर, चूडाकरण पर, सीमन्तोन्नयन पर, पुत्रोत्पत्ति पर, पुत्र आदि के मुख-दर्शन के समय—इन शुभ अवसरों पर गृहस्थ को नान्दीमुख पितरों का सम्मान करने के

लिए यह श्राद्ध करना चाहिए। वृद्धि श्राद्ध में सर्वप्रथम माताओं (मातरः) का सम्मान होता है। तत्पश्चात्, पिता, पितामह और विश्वेदेवों का। पिता, पितामह एवं प्रपितामह अश्रुमुख पितर कहे जाते हैं और प्रपितामह से पूर्व के तीन पितर नान्दीमुख कहे जाते हैं। इन्हीं की सन्तुष्टि के लिए यह श्राद्ध किया जाता है। वृद्धि श्राद्ध में कुलाचार के अनुसार पिण्डदान होता भी है, नहीं भी होता।

'मातरः' शब्द के दो तरह के अर्थ किये जाते हैं। सभी कृत्यों के आरम्भ में गणेश आदि के साथ गौरी, पद्मा आदि माताओं की पूजा होती है और दूसरे ब्रह्माणी आदि सात मातृकाओं की। इसके उपरान्त अपनी माता, पितामही एवं प्रपितामही की पूजा होनी चाहिए। तब नान्दीमुख पितरों, मातामही एवं पितरों की पत्नियों की पूजा होनी चाहिए। माताओं एवं मातामहियों के वर्गों के लिए सधवा एवं पुत्रवाली चार नारियों को भोजन के लिए आमन्त्रित करने और उनका सम्मान करने का विधान है।

४८ संस्कार

जैसा कि अभी (पृ० ३) सूचित किया गया है, गौतम धर्मसूत्र (८.१४-२४) में ४८ संस्कार प्रतिपादित हैं। इनमें ४० शारीर संस्कार तथा ८ आत्मगत संस्कार हैं। 'धर्मशास्त्र का इतिहास' (पृ० १७७) में ४० शारीर संस्कारों का परिगणन इस प्रकार किया गया है—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. अन्नप्राशन, ७. चौल, ८. उपनयन—कुल आठ, ९-१२. वेद के चार व्रत, १३. स्नान (समावर्तन), १४. विवाह, १५-१९. पंच महायज्ञ (देव, पितृ, मनुष्य, भूत एवं ब्रह्म), २०-२६. सात पाकयज्ञ (अष्टका, पार्वण स्थालीपक, श्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री, आश्वयुजी), २७-३३. सात हविर्यज्ञ (अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढ़ पशुबन्ध, एवं सौत्रामणी), ३४-४०. सात सोमयज्ञ (अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम)। पांचरात्रागम (पृ० ३१३) में भी ये इसी रूप में वर्णित हैं।

वहीं वैखानसगृह्यसूत्र में वर्णित १८ शारीर संस्कारों का तथा २२ यज्ञों का उल्लेख किया गया है। इनकी भी संख्या चालीस हो जाती है। १८ संस्कारों की नामावली पांचरात्रागम (पृ० ३१३) में देखी जा सकती है। २२ यज्ञों की नामावली पूर्वोक्त सात पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ एवं सात सोमयज्ञ के साथ पाँच आह्निक यज्ञों को एक मानकर बनती है (पृ० १७७-१७८)। जो ऐसा नहीं मानते, उनके मत में यज्ञों की संख्या २६ हो जाती है। शारीर संस्कारों की संख्या ४० रखने के लिए ऊपरवाला पक्ष ही माना जा सकता है। आठ आत्मगत संस्कारों का इन दोनों ही ग्रन्थों में परिगणन नहीं हुआ है।

सिद्धान्त शैवागम के मृगेन्द्रागम में भी ये सभी ४८ संस्कार वर्णित हैं। वहाँ का मूल वचन इस प्रकार है—

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं ततः॥
जातकर्म तथा नाम निष्क्रामः प्राशनं शिखा।
व्रतं वेदव्रतान्यन्ते गोक्षणं पाणियोगिता॥
पाकयज्ञा हविर्यज्ञाः सोमसंस्थाः परं ततः।
सत्राणि वनवासित्वं पारिव्राज्यं गुणास्ततः॥

(क्रियापाद, ८.१५९-१६१)

टीकाकार नारायण कण्ठ ने इन श्लोकों की विशद व्याख्या की है। तदनुसार व्रत का अर्थ उपनयन; ऐष्टिक, पार्विक, भौतिक और सौमिक—ये चार वेदव्रत; गोक्षण का गोदान नामक संस्कार है। सात पाकयज्ञ, सात हविर्यज्ञ और सात सोमसंस्थाओं के नाम भी यहाँ गिनाये गये हैं। सत्र शब्द से हिरण्यपाद आदि एकादश याग और अश्वमेध परिगृहीत हैं। नारायण कण्ठ ने पारमेश्वरागम को उद्धृत करते हुए सात पाकयज्ञ आदि की जो नामावली दी है, उसमें और ऊपर दी गई धर्मशास्त्र के इतिहास की सूची में अन्तर है, किन्तु अभिनवगुप्त के तन्त्रसार की एक लम्बी टिप्पणी (पृ० १४८-१५४) में दी गई नामावली से यह मिलती है। वहाँ (पृ० १४८-१४९) पहले ४८ संस्कारों का परिगणन करके बाद में स्वच्छन्दशास्त्र के प्रमाण से इनका विशद स्वरूप बताया गया है। तदनुसार ४० शारीर संस्कारों की नामावली इस प्रकार है—

१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकर्म, ६. निष्क्रमण, ७. अन्नप्राशन, ८. चूडाकरण, ९. व्रतबन्ध (उपनयन), १०-१३. वेदव्रत (ऐष्टिक-पार्विक-भौतिक-सौमिक), १४. गोदान, १५. उद्वाह, १६. अष्टका, १७. पार्वणी, १८. श्राद्ध, १९. श्रावणी, २०. आग्रायणी, २१. चैत्री, २२. आश्वयुजी, २३. आग्नेय, २४. अग्निहोत्र, २५. दर्श, २६. पूर्णमास, २७. चातुर्मास, २८. पशुबन्ध, २९. सौत्रामणि, ३०. अग्निष्टोम, ३१. अत्यग्निष्टोम, ३२. उक्थ्य, ३३. षोडशिका, ३४. वाजपेय, ३५. अतिरात्र, ३६. आप्तोर्याम, ३७. हिरण्यपाद, ३८. अश्वमेध, ३९. वानप्रस्थ और ४०. परिव्राजक।

आगे इन सबका विस्तृत विवरण दिया गया है। वह लगभग नारायण कण्ठ की टीका से मिलता-जुलता है। केवल हिरण्यपाद आदि की संख्या के विषय में ही अन्तर मिलता है। नारायण कण्ठ द्वारा उद्धृत वचन में इनकी संख्या ११ तथा तन्त्रसार की टिप्पणी में दिये गये वचन में १० ही हैं। २३ आग्नेय के स्थान पर आधेय होना चाहिए, जिसका अर्थ है अग्न्याधान। सत्र शब्द से यदि हम ३७ हिरण्यपाद और ३८ अश्वमेध—दोनों का ग्रहण कर लें, तो ४०वें संस्कार के रूप

में हम अन्त्येष्टि का परिगणन कर सकते हैं। नारायण कण्ठ की टीका में उद्धृत वचन से इसकी प्रतीति भी होती है। इन दोनों सूचियों से गौतम धर्मसूत्र की सूची में यह अन्तर है कि यहाँ ६ निष्क्रमण, ३७. हिरण्यपाद, ३८. अश्वमेध, ३९. वानप्रस्थ और ४०. परिव्राजक नामक पाँच संस्कारों के स्थान पर २७-३३. पंचमहायज्ञों का समावेश किया गया है। इसी तरह हविर्यज्ञों में दर्शपूर्णमास को एक मान कर आग्रयण की अलग से गिनती की गई है, जबकि आगम की सूची में दर्श और पूर्णमास की गिनती पृथक् की गई है। यही पक्ष हमें उचित भी लगता है, क्योंकि आग्रयण पाकयज्ञ में पठित आग्रहायणी से अभिन्न लगता है।

दोनों आगमिक सूचियों में व्रतबन्ध (उपनयन) के मेखला, दण्ड, अजिन, त्र्यायुष (भस्म), सन्ध्या, वह्न्युपासा और भिक्षा—ये सात व्रत अवश्य पालनीय माने गये हैं। स्मृतियों में भी ये वर्णित हैं। इनके अतिरिक्त आगमशास्त्र में भूतेश, पाशुपत्य, गण, गाणेश्वर, उन्मत्त, असिधार और घृतेश (गणेश) नामक सात चर्याव्रतों का पालन भी ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक माना गया है। मृगेन्द्रागम की व्याख्या में हिरण्यपाद, हिरण्यत्वक् आदि ११ सत्रों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं—

पादत्वग्गर्भमेढ्रोऽस्थिगुह्यार्चिर्नाभितालुकाः।
श्रोत्रनेत्रा हिरण्याद्या दश चैकाधिका मखाः॥

इनके स्थान पर तन्त्रसार की टिप्पणी (पृ० १५३) में दस ही नाम परिगणित हैं। वे इस प्रकार हैं—

हिरण्यपादः प्रथमस्तथा गुह्यहिरण्यधृत्।
हिरण्यमेढ्रो हिरण्यनाभिर्हिरण्यगर्भ एव च॥
हिरण्यश्रोत्रो हिरण्यत्वग्धिरण्याक्षस्तथैव च।
हिरण्यजिह्वस्त्वच्छृङ्गो दश यज्ञाः प्रकीर्तिताः॥

ऊपर की सूची से इनकी तुलना करते हुए हम तालु से जिह्वा का तथा अस्थि से शृंग का ग्रहण कर सकते हैं। तो भी ऊपर की सूची में हिरण्यार्चि यह नाम अधिक है। इसीलिये ऊपर की सूची में ११ और तन्त्रसार वाली सूची में दस ही नाम हैं। पहली सूची एकाधिक दस और दूसरी दस संख्या का स्पष्ट उल्लेख करती है। ऐसी स्थिति में शाखान्तर-प्रत्यय न्याय से दोनों को मान्यता देनी होगी। अस्तु.

आठ आत्मगुण

नारायण कण्ठ की वृत्ति में आठ आत्मगुणों के नाम इस तरह से दिये गये हैं—''दया स्पृहाऽनसूया च शा(क्षा)न्तिः शौचं तु मङ्गलम्। अकार्पण्य-मनायासः'' (पृ० १७९)। तन्त्रसार की टिप्पणी में ये इस तरह से परिगणित हैं—

दया, क्षान्ति, अनसूया, शौच, अनायास, मंगल्य, अकार्पण्य और अस्पृहा (पृ० १४९)। आगे (पृ० १५४)—

अत आत्मगुणानष्टौ कथयामि समासतः।
दया सर्वेषु भूतेषु क्षान्तिश्चाप्यनसूयता॥
शौचं चैवमनायासो मङ्गल्यं चाप्यतः परम्।
अकार्पण्यं चास्पृहा चेत्यष्टावात्मगुणाः स्मृताः॥

यहाँ दया, क्षान्ति आदि की व्याख्या भी की गई है। यही नहीं, गोदान आदि शब्दों की भी विस्पष्ट व्याख्या की गई है। जिज्ञासुजनों को वहीं (पृ० १५०-१५४) देखना चाहिए। इन ४८ संस्कारों का वर्णन अग्निपुराण (३२वाँ अध्याय) आदि में भी मिलता है।

इन ४८ संस्कारों में आठ आत्मगुणों को हटा देने पर इनकी संख्या ४० रह जाती है। धर्मशास्त्र के इतिहास और पांचरात्रागम में इन्हीं का परिचय दिया गया है। ७ पाकयज्ञ, ७ हविर्यज्ञ, ७ सोमसंस्था और सत्र—इन बाईस वैदिक संस्कारों को हटा देने पर स्मार्त संस्कारों की संख्या १८ रह जायगी। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में वानप्रस्थ और पारिव्राज्य की गिनती आश्रमों में की जाती है। इनको भी हटा देने पर संस्कारों की संख्या १६ रह जायगी। ये ही सोलह संस्कार आजकल मान्य हैं। बची सूची के नामों में भी परिवर्तन अवश्य हुआ है, तो भी इन संस्कारों के साथ सोलह की संख्या अनिवार्य रूप से जुड़ गई है। एक सर्वाधिक मान्य सूची का और आजकल लोकाचार में मान्य सूची का परीक्षण कर हम एक नामावली प्रस्तुत कर रहे हैं और तदनुसार उनका विशद परिचय देने का प्रयत्न कर रहे हैं।

षोडश संस्कार

"यन्मनुरवदत् तद्भेषजम्" यह श्रुति का कहना है। अर्थात् जो कुछ मनु ने कहा है, वह हमारे लिए मान्य है। संस्कारों के विषय में मनु (२.१६) का कहना है कि जिसके निषेक (गर्भाधान) से लेकर श्मशान (अन्त्येष्टि) पर्यन्त संस्कार होते हैं, वही इस शास्त्र का अधिकारी है। निषेक की प्राथमिकता के विषय में इनका एक अन्य वचन भी उपलब्ध है (२.१४२)। अतः हम यहाँ तदनुसार गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त षोडश संस्कारों का स्वरूप यथाशास्त्र, यथा-लोकव्यवहार वर्णित करेंगे।

गौतमधर्मसूत्र में वर्णित गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, समावर्तन और विवाह—ये दस संस्कार निर्विवाद रूप से धर्मशास्त्र के सभी ग्रन्थों में मान्य हैं। निष्क्रमण, केशान्त और अन्त्येष्टि संस्कार को मान्यता मनुस्मृति और पारस्कर गृह्यसूत्र में मिली है।

संस्कारों की सूचियों को देखने से ज्ञात होता है कि पारस्कर गृह्यसूत्र और मनुस्मृति को ये तेरह संस्कार ही मान्य हैं। कर्णवेध नामक संस्कार बौधायन गृह्यसूत्र और व्याससमृति की सूची में उपलब्ध है और इसको लौकिक मान्यता भी मिली हुई है। देश-विभाजन के समय का हमारा अपना अनुभव इस संस्कार की लोकमान्यता की पुष्टि करता है। षोडश संस्कारों की सूची के शेष दो नामों के लिए हम विद्यारम्भ और वेदारम्भ नामक दो संस्कारों का सुझाव देना चाहते हैं। 'विद्यारम्भे विवाहे च' जैसे वचनों में विद्यारम्भ संस्कार ही गृहीत है, ऐसा हमारा मानना है। बालक के पाँच वर्ष का हो जाने पर उससे शुभ मुहूर्त में पाटी-पूजा कराई जाती है। उपनयन संस्कार के हो जाने पर बटुक को शुभ मुहूर्त में गुरु के पास वेदाध्ययन के लिए भेजा जाता है। हम समझते हैं कि अब चतुर्विध वेदव्रतों का इसी में समावेश मान लिया गया है। इसी तरह से गौतम की सूची में निर्दिष्ट पाँच यज्ञों का समावेश गृहस्थ के नित्य कर्मों में कर लिया गया है।

इस सामान्य विवेचन के साथ हमने यहाँ विवेच्य सोलह संस्कारों की यह सूची प्रस्तुत की है। अब यथाक्रम उनका परिचय दिया जा रहा है।

१. गर्भाधान (निषेक)

अथर्ववेद (५.२५) का यह भाग गर्भाधान के कर्मकाण्ड से संबद्ध है। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१.१३.१) के अनुसार बृहदारण्यकोपनिषद् (६.४.२१) में गर्भलंभन (गर्भाधान), पुंसवन एवं अनवलोभन (भ्रूणरक्षा) से संबद्ध कृत्य वर्णित हैं। चतुर्थी कर्म के रूप में आजकल यह संपादित होता है। नववधू के पहली बार ससुराल आने पर मासिक धर्म की प्रवृत्ति के चौथे दिन आजकल यह संस्कार होता है। स्नान आदि से शुद्ध वधू की गोद भरी जाती है, उसके आँचल में अक्षत चावल, नारियल का गोला और पाँच प्रकार के फल दिये जाते हैं। चौथी रात पति के द्वारा अग्नि, वायु, सूर्य आदि के निमित्त आहुति देने का विधान है। तब वह पत्नी का स्पर्श करता है। संभोग करते समय वह निर्दिष्ट मन्त्रों का उच्चारण करता है और वीर्यपात के समय इस भावना के प्रदर्शक मन्त्र का उच्चारण करता है कि मेरी पत्नी की योनि में गर्भ स्थापित हो, पूरे दस मास के उपरान्त इससे वीर पुत्र की उत्पत्ति हो। गर्भाधान की यही संक्षिप्त विधि है।

आधुनिक लोग आश्चर्य प्रकट कर सकते हैं कि संभोग के समय भी मन्त्रोच्चारण होता था, किन्तु उन्हें जानना चाहिए कि प्राचीन भारत में प्रत्येक कृत्य धार्मिक भावना से किया जाता था। सूत्र-ग्रन्थों, स्मृति-ग्रन्थों और निबन्ध-ग्रन्थों में इनका बहुत विस्तार मिलता है।

मनु (३.४६) और याज्ञवल्क्य (१.७९) के अनुसार गर्भधारण का स्वाभाविक समय मासिक धर्म की अभिव्यक्ति के उपरान्त सोलह रातें है। युग्म

रात्रियों में पुत्र की और अयुग्म रात्रियों में पुत्री की उत्पत्ति होती है। गर्भाधान में चौथी रात्रि को ही मान्यता दी गई है। गर्भाधान के लिए अमावास्या एवं पूर्णमासी, अष्टमी एवं चतुर्दशी वर्जित तिथियाँ हैं। मूल और मघा नक्षत्र को भी वर्जित माना गया है। रजस्वला स्त्री के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए बताया गया है कि वह चौथे दिन स्नान के उपरान्त श्वेत वस्त्र धारण करे, आभूषण पहने तथा योग्य व्यक्तियों से ही वार्तालाप करे। वह अंगलेप करे, स्नान के उपरान्त वह अपने पति का ही प्रथम दर्शन करे। ऐसी मान्यता है कि स्नान के उपरान्त वह जिसे देखेगी, उसी के समान उसकी सन्तान होगी।

गर्भाधान संस्कार गर्भ का है या स्त्री का? इस तरह के प्रश्नों का हमारी समझ में कोई प्रसंग नहीं है, क्योंकि मनुस्मृति का यह स्पष्ट उद्घोष है—

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्॥

(मनु० २.१६)

स्पष्ट है कि गर्भाधान संस्कार के माध्यम से जो जीव गर्भ में प्रविष्ट होता है और अन्त्येष्टि संस्कार के समय वह पुनः पंचतत्त्व में विलीन हो जाता है, उस शरीर के ही ये सब संस्कार हैं। मनुस्मृति का एक दूसरा श्लोक भी इस बात की पुष्टि करता है—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥

(मनु० २.२६)

यहाँ स्पष्ट रूप से दो बातें बताई गई हैं—एक तो निषेक आदि सभी संस्कार द्विजन्मा के किये जाते हैं और दूसरा ये सब संस्कार शरीर के लिए हैं।

पति की अनुपस्थिति में गर्भाधान के सिवाय सभी संस्कार किसी सम्बन्धी द्वारा भी किये जा सकते हैं, ऐसा विधान मिलता है, किन्तु सीमन्तोन्नयन संस्कार में भी पति की उपस्थिति आवश्यक मानी गई है।

२. पुंसवन

इस संस्कार को यह नाम इसलिए दिया गया है कि इसके करने से पुत्रोत्पत्ति होती है। 'पुमान् प्रसूयते येन तत् पुंसवनमीरितम्' यह इसकी व्युत्पत्ति बताई गई है। पुंसवन शब्द अथर्ववेद (६.११.१) में आया है। यह संस्कार गर्भाधान के बाद तीसरे महीने में किया जाता है। इस संस्कार में न्यग्रोध का अंकुर तोड़ कर उसका दूध पत्नी के दक्षिण नासापुट में डाला जाता है। उस समय 'इदं विष्णुः' इस मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। कुछ नक्षत्रों को पुरुष नक्षत्र माना गया है। इनमें हस्त,

श्रवण, पुनर्वसु, मृगशिरा एवं पुष्य पुरुष नक्षत्र माने गये हैं। रोहिणी, पूर्वा भाद्रपदा एवं उत्तरा भाद्रपदा भी पुरुष नक्षत्र हैं और स्वाति, अनुराधा एवं अश्विनी भी। इन्हीं पुरुष-नक्षत्रों में यह संस्कार किया जाना चाहिये। गर्भाधान के पाँचवें अथवा आठवें मास में भी पुंसवन करने का विधान मिलता है। कहीं-कहीं पुंसवन संस्कार में भी होम की व्यवस्था है। यह भी बताया गया है कि पति के अभाव में देवर भी इसको कर सकता है। ऊपर बृहदारण्यकोपनिषद् के प्रमाण से गर्भलंभन (गर्भाधान), पुंसवन और अनवलोभन की चर्चा की गई है। गर्भरक्षण के लिए यह उपाय किया जाता है। यह पुंसवन संस्कार का ही एक अंग है। इसके आचरण से गर्भपात की आशंका नहीं रह जाती। दूर्वा के रस को स्त्री की नाक में डालना, उसके हृदय का स्पर्श करना एवं देवताओं से भ्रूण की रक्षा के लिए प्रार्थना करना, इसके विशिष्ट कर्तव्य हैं। इनके करने से भ्रूण निर्विघ्न रहता है और गिरता नहीं। चौथे मास में यह किया जाता है।

३. सीमन्तोन्नयन

अठमासा के रूप में आजकल यह मनाया जाता है। 'सीमन्त उन्नीयते यस्मिन् कर्मणि तत् सीमन्तोन्नयनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस संस्कार में गर्भिणी का केश-संस्कार करते हुए उनका उन्नयन किया जाता है, अतः इसे सीमन्तोन्नयन कहा जाता है। इस संस्कार का प्रयोजन गर्भ को शारीरिक आघात से सुरक्षित रखना तथा गर्भिणी को यथासंभव प्रसन्न, हर्षित तथा उल्लसित रखना है। इस संस्कार के लिए लोक में प्रचलित अठमासा शब्द से ही ज्ञात हो जाता है कि यह गर्भ के आठवें मास में सम्पन्न होता है। उपनयन और विवाह की तरह इस संस्कार के प्रारम्भ में भी ग्रह-शान्ति का विधान है। इस संस्कार की मुख्य विधि इस प्रकार है—संस्कारकर्ता की स्त्री मृगचर्म पर बैठती है। वह पति का हाथ पकड़ती है और इसके साथ निश्चित मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। तब पति स्त्री के मस्तक (सीमन्त प्रदेश) के बालों को साही (शल्लकी) के काँटे तथा कुश के तीन गुच्छों से ऊपर करता है। सीमन्त (माँग) के बालों का उन्नयन इस संस्कार की प्रधान क्रिया है, इसीलिये इसे सीमन्तोन्नयन नाम दिया गया है। साही के काँटे का इसमें विशेष स्थान है। इसको गृहस्थ के घर में नहीं रखा जाता। ऐसा करना अमांगलिक माना जाता है, अतः किसी देव-मन्दिर में निश्चित स्थान पर इसे सुरक्षित रखा जाता है। संस्कार के अवसर पर उसे वहाँ से लाया जाता है और संस्कार के पूरा हो जाने के बाद उसे पुनः वहाँ पहुँचा दिया जाता है। यह संस्कार केवल एक बार प्रथम गर्भाधान के बाद किया जाता है। कालान्तर में यह संस्कार भी लुप्तप्राय हो गया। कुछ जातियों में यह अब भी मनाया जाता है। पास-पड़ोस

के किसी घर को सीमन्तिनी का मायका मान कर वहाँ से उसे गाजे-बाजे के साथ संस्कार-स्थल पर कोरे कपड़े की लंबी पट्टी बना कर उस पर धीरे-धीरे चलाकर पूरे सम्मान के साथ लाया जाता है। अब यह विधान भी समाप्त होता जा रहा है। गर्भाधान के समय की गोद-भराई की पद्धति यहाँ भी चालू होती जा रही है। धर्मशास्त्र के इतिहास (पृ० १९०-१९२) में वर्णित विष्णुबलि और सोष्यन्ती कर्म का भी, लगता है आजकल सीमन्तोन्नयन में ही समावेश हो गया है।

४. जातकर्म

मनुस्मृति (२.२९) के अनुसार यह जातकर्म संस्कार जन्म के उपरान्त नाल काटने से पहले करना चाहिए और इस बालक को मन्त्रों के उच्चारण के साथ सुवर्ण, शहद और घी का प्राशन कराया जाता है। मुख्य रूप से प्रायः यही बात सर्वत्र वर्णित है। कहीं-कहीं सोने के चम्मच में दधि, घृत और मधु का मन्त्रोच्चारपूर्वक विधान है, तो अन्यत्र काँसे के पात्र में दधि और घृत के प्राशन का। बृहदारण्यकोपनिषद् (१.५.२) का विधान है कि नवजात शिशु को सर्वप्रथम मक्खन चटाना चाहिए, तब माँ के स्तन का स्पर्श कराना चाहिए। इस उपनिषद् के अन्त में (६.४.२४-२८) में जातकर्म का वर्णन इस तरह किया गया है—पुत्रोत्पत्ति के उपरान्त अग्नि प्रज्वलित की जाती है। तदुपरान्त बच्चे को किसी की गोद में रखकर मन्त्रोच्चारपूर्वक देवताओं से मंगलकामना की जाती है, उनके निमित्त आहुति समर्पित की जाती है। इसके बाद पिता अपने मुख को बच्चे के दायें कान की ओर घुमा कर तीन बार वाक् शब्द का उच्चारण करता है। इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् में जातकर्म संस्कार के निम्न छः भाग हैं।

१. दधि और घृत का मन्त्रों के साथ होम, २. बच्चे के दाहिने कान में वाक् शब्द का तीन बार उच्चारण, ३. सोने के चम्मच या शलाका से बच्चे को दधि, मधु और घृत चटाना, ४. बच्चे को गुप्त नाम देना (नामकरण), ५. बच्चे के मुख को माता के स्तन पर रखना और ६. माता को मन्त्रों द्वारा संबोधित करना। शतपथब्राह्मण ने एक बात और जोड़ दी है कि पाँच ब्राह्मणों के द्वारा पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊपर की दिशाओं से बच्चे के ऊपर साँस लेना। यह कार्य केवल पिता भी कर सकता है।

धर्मशास्त्र के इतिहास (पृ० १९२-१९५) में इस संस्कार का विस्तार से वर्णन मिलता है। वहाँ ऊपर वर्णित अंशों के साथ अन्य अंशों का भी निरूपण इन शीर्षकों के साथ किया गया है—१. होम, २. मेधाजनन, ३. आयुष्य, ४. अंसाभिमर्शन (बच्चे के कन्धे या दोनों कन्धों को छूना), ५. मात्राभिमन्त्रण (माता को संबोधित करना), ६. पंच ब्राह्मण-स्थापन, ७. स्तन-प्रतिधान या स्तनप्रदान, ८. देशाभिमन्त्रण (देशाभिमर्शन), ९. नामकरण और १०. भूत-प्रेतों का भगाना।

छठी के दिन किये जाने वाले षष्ठी देवी एवं भगवती दुर्गा के पूजन का क्रम भी यहाँ बताया गया है और अन्त में उत्थान (बच्चे का शय्या से उठना) क्रम का विधान भी। आजकल मनुस्मृति में निर्दिष्ट क्रम का ही थोड़ा-बहुत पालन होता है।

५. नामकरण

मनुस्मृति में इस संस्कार से संबद्ध चार श्लोक हैं (२.३०-३३)। उनमें बताया गया है कि बालक का नामकरण दसवें या बारहवें दिन अथवा पुण्य तिथि या मुहूर्त में अथवा गुणयुक्त नक्षत्र में करावें। ब्राह्मण का नाम मंगल-युक्त, क्षत्रिय का बल-युक्त, वैश्य का धन-युक्त और शूद्र का गर्हा-युक्त होना चाहिए। ब्राह्मण का शर्मा शब्द से, राजा का रक्षा (वर्मा) शब्द से, वैश्य का पुष्टि (गुप्त) शब्द से और शूद्र का दास शब्द से युक्त नाम रखना चाहिए। स्त्रियों का नाम सुख से कहने योग्य, कोमल, स्पष्ट अर्थवाला, सुन्दर, मांगलिक अन्त में दीर्घ वर्ण वाला और आशीर्वाद की सूचना देने वाला होना चाहिए। बरही के नाम से यह संस्कार आज भी हँसी-खुशी के वातावरण में मनाया जाता है और यहाँ निर्दिष्ट सभी बातों का प्रायः पालन भी किया जाता है।

'धर्मशास्त्र का इतिहास' (पृ० १९५-२०१) में इसकी विस्तार से चर्चा की गई है। अनेक पक्षों को उपस्थापित कर वहाँ बताया गया है कि आधुनिक काल में नामकरण जन्म के १२वें दिन बिना किसी वैदिक मन्त्रोच्चारण के मना लिया जाता है। स्त्रियाँ एकत्र होती हैं, पुरुषों से परामर्श कर नाम घोषित कर देती हैं और बच्चे को पालने में डाल देती हैं। कहीं-कहीं अब भी यह संस्कार विधिवत् किया जाता है, किन्तु अब उसका प्रचलन एक प्रकार से उठ गया है।

सायण ने चार तरह के नामों की चर्चा की है। वे हैं—१. नाक्षत्र नाम (जिस नक्षत्र में बच्चा उत्पन्न होता है, जन्मपत्री में इसका उल्लेख रहता है), २. गुप्त नाम, ३. सर्व साधारण को ज्ञात नाम तथा कोई यज्ञकर्म के सम्पादित करने पर रखा गया नाम, यथा सोमयाजी इत्यादि। हम दीक्षा नाम का भी इसमें समावेश कर सकते हैं।

नामों के विषय में प्रमुख नियमों का निर्धारण गृह्यसूत्रों के द्वारा ही हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ (धर्म०, पृ० १९७-१९८) में इस तरह के नौ नियमों की सूचना दी गई है। वैदिक यज्ञों में नाक्षत्र नाम की महत्ता थी। पाणिनि ने इस विषय में कई नियम बनाये हैं (८.३.३४-३७ एवं ७.३.१८)। उन्होंने धनिष्ठा, फाल्गुनी, अनुराधा, कृत्तिका आदि से बने नामों की चर्चा की है। महाभाष्य में भी तिष्य, पुनर्वसु, चित्रा आदि नक्षत्रों पर आधारित नाम मिलते हैं। महाभाष्य में शुंग-वंश

के संस्थापक पुष्यमित्र का नाम नक्षत्राधारित ही है। पालि वाङ्मय में भी इस तरह के नाम उपलब्ध हैं। नामकरण की प्रक्रिया से सम्बद्ध मनुस्मृति के वचनों का हिन्दी अनुवाद ऊपर दे दिया गया है।

धर्मशास्त्र के इतिहास (पृ० २००-२०१) में मातृ-गोत्र नाम के विषय में भी सूचनाएँ दी गई हैं। यहाँ दिये गये उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें माता के प्रसिद्ध कुल का संकेत रहता है। कालान्तर में लेखक अपने मातृ-गोत्र का भी उल्लेख करते थे। जैसे भवभूति (७००-७५० ई०) ने अपने को काश्यप एवं अपनी माता को जातुकर्णी कहा है। महाभाष्य की कारिका में हम यह उल्लेख पाते हैं कि वैयाकरण पाणिनि दाक्षी के पुत्र थे।

धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों ने नामकरण संस्कार की प्रक्रिया को संक्षेप में इस प्रकार बताया है—गोद में बच्चे को लेकर माता पति के दाहिने बैठती है। कुछ लोगों के मत से माता ही गुह्य नाम रखती है। बच्चे के अन्य चार नामों की भी चर्चा यहाँ मिलती है। ये हैं—१. कुलदेवता नाम, २. मास नाम, ३. व्यावहारिक नाम और ४. नाक्षत्र नाम।

६. निष्क्रमण

मनुस्मृति (२.३४) का कहना है कि चौथे मास में शिशु को घर से बाहर निकालना चाहिये। इसी क्रम में भानु-निरीक्षण (सूर्य-दर्शन) का भी विधान है। सूर्य का दर्शन कराते समय 'तच्चक्षुः' मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। पारस्कर-गृह्यसूत्र में जन्म के १२वें दिन से चतुर्थ मास पर्यन्त निष्क्रमण का काल निर्दिष्ट है। इसी मत को आजकल मान्यता मिली हुई। इसमें पिता सूर्य की पूजा के उपरान्त मन्त्रोच्चारपूर्वक सूर्य का दर्शन कराता है। कहीं-कहीं चन्द्रदर्शन का भी विधान मिलता है। बताया गया है कि सूर्य एवं चन्द्र का दर्शन क्रमशः तीसरे और चौथे मास में होना चाहिए। यह एक संक्षिप्त संस्कार है। बौधायन के मत से इसमें आठ आहुतियों वाला होम भी निर्दिष्ट है।

७. अन्नप्राशन

अन्नप्राशन का अनुष्ठान सर्वत्र छठे मास में किया जाता है। मनुस्मृति (२.३४) में विकल्प का भी विधान है कि अपने कुल की रीति के अनुसार भी इस मंगल कार्य को किया जा सकता है। आयुर्वेद की सुश्रुतसंहिता में भी अन्नप्राशन का यही काल उचित माना गया है। पारस्कर-गृह्यसूत्र में इस प्रसंग में वाग्देवता के लिए आहुति देने का विधान है। इस प्रसंग में बच्चे को खिलाने के साथ होम, ब्राह्मण-भोजन एवं आशीर्वचन की भी चर्चा मिलती है। बच्चे के बचे भोजन को माता ग्रहण कर लेती है। एक मनोरंजक बात की चर्चा अपरार्क ने की

है। उत्सव के दिन पूजित देवताओं के समक्ष सभी प्रकार की कलाओं और शिल्पों से संबद्ध यन्त्र आदि रख दिये जाते हैं और बच्चे को स्वतन्त्र रूप से उस स्थान पर छोड़ दिया जाता है। बच्चा जिस वस्तु को सर्वप्रथम पकड़ता है, उसे उसी शिल्प या पेशे में पारंगत बनाने के लिए पहले से प्रयत्न प्रारम्भ हो जाता है। पहाड़ों पर आज भी इसका प्रचलन मिलता है।

८. कर्णवेध

बौधायनगृह्यशेषसूत्र और व्यासस्मृति के अतिरिक्त कात्यायनसूत्र में भी इसकी चर्चा मिलती है। इसकी संक्षिप्त चर्चा पहले (पृ० १२) आ चुकी है। बौधायनगृह्यसूत्र (१.१२) में कर्णवेध ७वें या ८वें मास में करने को कहा गया है, किन्तु बृहस्पति के अनुसार यह जन्म के १०वें, १२वें या १६वें दिन या ७वें या १०वें मास में करना चाहिये। स्मृतिचन्द्रिका में इसकी संक्षिप्त विधि वर्णित है। कर्णवेध के उपरान्त ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है। आधुनिक काल में यह कार्य सोनार करता है। बच्चे के कान के लटकते हुए भाग में पतले तार से छेदकर उसे गोलाकार बाँध दिया जाता है। लड़की के कर्णवेध में पहले बायाँ कान छेदा जाता है। निरुक्त (२.४) से पता चलता है कि प्राचीन काल में भी यह संस्कार किया जाता था। वहाँ आया है—जो गुरु कान को सत्य के साथ छेदता है, बिना पीड़ा दिये जो अमृत डालता है, वह अपने माता एवं पिता के समान है। हमारी समझ में निरुक्त (२.४) में उद्धृत इस वचन में गुरु के द्वारा किये गये मन्त्रोपदेश की चर्चा है। भारतीय शास्त्रों में अन्यत्र भी इस बात की चर्चा मिलती है कि माता-पिता केवल स्थूल देह की उत्पत्ति में कारण हैं। मन्त्रोपदेश द्वारा वागीशी के गर्भ से आध्यात्मिक देह को उत्पन्न करने वाले गुरु को अधिक आदर देना चाहिए। इस मन्त्र में आये 'आतृणत्ति' और 'कर्णौ' शब्द कर्णवेध संस्कार की भी सूचना देते हैं।

९. चूडाकर्म

इस संस्कार के विषय में मनुस्मृति (२.३५) में बताया गया है कि सभी द्विजातियों का चूडाकर्म (मुण्डन) संस्कार पहले अथवा तीसरे वर्ष में धार्मिक विधि के अनुसार वेद की आज्ञा का पालन करते हुए अनुष्ठेय है। कुछ आचार्यों ने पाँचवें वर्ष में भी इसके अनुष्ठान की अनुमति दी है। चूडाकरण या चौल संस्कार के रूप में भी यह प्रसिद्ध है। यह संस्कार भी होम-सम्पादन पूर्वक किया जाना चाहिए। आजकल उपनयन अथवा विवाह-संस्कार के अवसर पर होने वाली ग्रहशान्ति के अवसर पर सुसंस्कृत जल से क्षौर-कार्य सम्पन्न होता है। कुछ विद्वान् इस संस्कार के अवसर पर शिखास्थापन का विधान बताते हैं और कहते हैं कि चूडाकरण का अर्थ ही चूडा, अर्थात् शिखा का स्थापन है। हमारी

समझ में यह उचित नहीं है, क्योंकि गर्भवाले बाल अपवित्र माने जाते हैं। मित्र-मिश्र को उद्धृत कर इस बात का उल्लेख धर्मशास्त्र के इतिहास में भी किया गया है (पृ० २०५-२०६)। इसीलिए आजकल मुण्डन संस्कार के अंग के रूप में तुण्डन का आयोजन किया जाता है, जिसमें शिखा रखी जाती है।

मनु (२.६६) एवं याज्ञवल्क्य (१.१३) के अनुसार जातकर्म से लेकर चौल तक के सभी संस्कार लड़कियों के भी किये जाते हैं, किन्तु इनमें वैदिक मन्त्रों का उच्चारण नहीं किया जाता।

धर्मशास्त्र के इतिहास (पृ० २०३-२०६) में इस संस्कार का भी विशद वर्णन मिलता है। कटे हुए केशों को गुप्त रूप से हटा देने की यहाँ विशेष रूप से चर्चा है। प्रारम्भ में पिता ही क्षौर-कर्म करते थे। आगे चलकर नाई यह कार्य करने लगा। कटे हुए केशों को बैल के गोबर में रख कर उन्हें गोशाला में गाड़ दिया जाता है या तालाब, नदी आदि में फेंक दिया जाता है। उदुम्बर पेड़ की जड़ में इनको गाड़ देने का भी विधान है। दर्भमूल में या जंगल में रख देने का भी विधान मिलता है।

शिखा रखना हमारे लिए आवश्यक माना गया है। आजकल कुछ नई हवा में बह रहे लोग शिखा रखने से लजाते हैं। शास्त्रों में विधान है कि बिना यज्ञोपवीत एवं शिखा के कोई भी धार्मिक कृत्य नहीं करना चाहिए। बिना इन दोनों के किया गया धार्मिक कृत्य न किया हुआ माना जाता है। यदि कोई व्यक्ति घृणावश, मूर्खतावश अथवा अज्ञानवश शिखा-यज्ञोपवीत धारण नहीं करता, तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। इस संस्कार के अवसर पर उपयोग में लाई जाने वाली वस्तुओं की सूची काणे साहब ने दी है (पृ० २०४)। आजकल इन सबका उपयोग नहीं होता, तो भी उपयोग के लायक वस्तुओं का संग्रह अवश्य कर लेना चाहिए। इस संस्कार का प्रयोजन आयुष्य तथा सौन्दर्य की वृद्धि एवं कल्याण की प्राप्ति है।

१०. विद्यारम्भ

षोडश संस्कारों का परिगणन करते समय हम इस संस्कार की सूचना दे चुके हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में बताया गया है कि चौल संस्कार के उपरान्त राजकुमार को लिखना और अंकगणित आदि सीखना पड़ता था तथा उपनयन के उपरान्त उसे वेद, आन्वीक्षिकी (तर्कशास्त्र), वार्ता एवं दण्डनीति की शिक्षा दी जाती थी। तभी गोदान के उपरान्त उसका विवाह होता था। कालिदास के रघुवंश (३.२८) से सूचित होता है कि अज ने पहले अक्षर सीखे और बाद में संस्कृत-साहित्य का अध्ययन किया। बाण की कादम्बरी से हमें सूचना मिलती है कि

राजकुमार चन्द्रापीड ने विद्यामन्दिर में छठे वर्ष में प्रवेश किया और वहाँ १६ वर्ष की अवस्था तक रहकर सभी कलाओं एवं शास्त्रों का अध्ययन किया। उत्तररामचरित के द्वितीय अंक में आया है कि लव और कुश ने चौलकर्म के उपरान्त एवं उपनयन के पूर्व वेद के अतिरिक्त अन्य विद्याएँ सीखीं। इन सब स्थलों पर विद्यारम्भ संस्कार का ही उल्लेख है।

अपरार्क एवं स्मृतिचन्द्रिका में मार्कण्डेयपुराण को उद्धृत करते हुए विद्यारम्भ का वर्णन किया है। बच्चे के पाँचवें वर्ष कार्तिक शुक्ल पक्ष की द्वादशी तिथि से आषाढ़ शुक्ल की एकादशी तक किसी दिन प्रतिपत्, षष्ठी, पूर्णमासी और अमावास्या तथा रिक्ता तिथियों (चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशी) को एवं शनिवार और मंगलवार को छोड़ कर विद्यारंभ करना चाहिए। विष्णु, लक्ष्मी, सरस्वती, सूत्रकारों और कुलविद्या की पूजा करके अग्नि में घृत की आहुतियाँ देनी चाहिए। इसके उपरान्त दक्षिणा आदि से ब्राह्मणों का सत्कार करना चाहिए। अध्यापक को पूर्व दिशा और बच्चे को पश्चिम दिशा में बैठना चाहिए। इसके उपरान्त गुरु पढ़ाना प्रारम्भ करता है और बालक ब्राह्मणों का आशीर्वाद ग्रहण करता है। अनध्याय के दिनों में शिक्षण नहीं किया जाता।

आधुनिक काल में लिखना-सीखना किसी शुभ मुहूर्त में प्रारम्भ किया जाता है। इसके लिए आश्विन मास की शुक्ल पक्ष की विजयादशमी सर्वश्रेष्ठ तिथि मानी जाती है। सरस्वती और गणपति के पूजन के उपरान्त गुरु का सम्मान किया जाता है और बालक पट्टी पर लिखता है। इसी को पाटी-पूजन कहा जाता है। इसके उपरान्त उसे अक्षरों का ज्ञान कराया जाता है। यही कृत्य विद्यारम्भ संस्कार के रूप में प्रसिद्ध है।

११. उपनयन (यज्ञोपवीत)

उपनयन का अर्थ है पास या संनिकट ले जाना। यह भी एक संस्कार है। इसमें बालक को वेदाध्ययन के लिए आचार्य के पास ले जाया जाता है। मनुस्मृति (२.३६-६४) में पहले उपनयन संस्कार का विधान वर्णभेद के अनुसार विस्तार से बताया गया है और आगे (२.६८-२४९) अध्याय की समाप्ति तक ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का विधान है। इस विषय की चर्चा आगे चार आश्रमों का वर्णन करते समय की जायगी। यहाँ उपनयन संस्कार के विधि-विधानों का उल्लेख किया जा रहा है।

ब्राह्मण का उपनयन (यज्ञोपवीत = जनेऊ) संस्कार गर्भ के आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का गर्भ से ११वें और वैश्य का गर्भ से १२वें वर्ष में किया जाता है। ब्रह्मतेज की कामना (इच्छा) करने वाले ब्राह्मण का ५वें वर्ष में, बल की चाह

वाले क्षत्रिय का छठे तथा धन चाहने वाले वैश्य का ८वें वर्ष में यज्ञोपवीत करना चाहिए। सोलह वर्ष तक ब्राह्मण का, बाईस वर्ष तक क्षत्रिय का और चौबीस वर्ष तक वैश्य का यह संस्कार हो जाना चाहिए। ऐसा न होने पर ये सब सावित्रीपतित अत एव व्रात्य कहलाते हैं।

तीनों वर्णों के ब्रह्मचारियों को चाहिए कि वे क्रमशः काला मृग, रुरु मृग और बकरे के चर्म का दुपट्टा धारण करें तथा सन, रेशम और ऊन का वस्त्र पहने। ब्राह्मण की मेखला मूँज की तीन लड़ की और चिकनी हो। क्षत्रिय की मेखला मूर्वा की, जिससे धनुष की प्रत्यंचा बनती है और वैश्य की सन के सूत की बनानी चाहिए। मूँज न मिले तो क्रम से कुशा, अश्मन्तक और बल्वज तृण की मेखला बनानी चाहिए और उसे तीन लड़ की तथा एक, तीन या पाँच गाँठ की बनावे। ब्राह्मण का जनेऊ कपास के सूत का, ऊपर को बटा हुआ और तीन लड़ का, क्षत्रिय का सन के सूत का तथा वैश्य का भेड़ के ऊन का होना चाहिए। ब्राह्मण को बेल या ढाक का, क्षत्रिय को वट और खैर का, वैश्य को पीलू या गूलर का दण्ड धर्मानुसार धारण करना चाहिए। ब्राह्मण का दण्ड प्रमाण में केश तक का, क्षत्रिय का मस्तक तक का और वैश्य का नासिका तक का होना चाहिए। ये सभी दण्ड सीधे, बिना गाँठ के, देखने में सुन्दर, मनुष्यों को अच्छे लगने वाले, अग्नि से अस्पृष्ट एवं छाल के साथ होने चाहिए। ब्राह्मण आदि बटुक इच्छित दंड को लेकर, सूर्य के सामने खड़ा होकर और अग्नि की परिक्रमा करके विधिपूर्वक भिक्षा माँगें। उपनीत ब्राह्मण भवत् शब्द का पहले, क्षत्रिय मध्य में और वैश्य अन्त में उच्चारण कर भिक्षा माँगे। ब्रह्मचारी को पहले माता, बहिन या मौसी से अथवा जो नहीं न करे, उससे भिक्षा माँगनी चाहिए।

उस भिक्षा को जितनी चाहिए, उतनी लाकर निष्कपट भाव से गुरु को समर्पित करना चाहिए और उनकी आज्ञा से आचमन करने के उपरान्त पवित्र हो पूर्व दिशा में मुखकर उसे ग्रहण करना चाहिए। आयु की कामना वाला पूर्वाभिमुख, यश की कामना वाला दक्षिणामुख, लक्ष्मी की कामना वाला पश्चिमाभिमुख और मोक्ष की कामना वाला उत्तराभिमुख हो भिक्षा ग्रहण करे। द्विज नित्य आचमन कर सावधान हो अन्न ग्रहण करे। वह भोजन के उपरान्त भी भलीभाँति मुख-शुद्धि करे और नाक-कान और नेत्रों को स्पर्श करे। भोजन का सदा आदर करे, बिना निन्दा के सदा उसे ग्रहण करे। भोजन को देखकर प्रसन्नता प्रकट करे और भोजन सदा मिलता रहे, इसके लिए प्रार्थना करे। आदरपूर्वक भोजन करने से वह बल और वीर्य को बढ़ाता है, अतः उसका अनादर कभी न करे। अपना उच्छिष्ट न किसी को दे और स्वयं ही खाये। दो ही बार भोजन करें। अधिक भोजन नहीं करना चाहिए और जूँठे मुँह से न कहीं जाना ही

चाहिए। अधिक भोजन आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्य का नाश करने वाला है। इससे लोक में निन्दा होती है, अतः इसका त्याग ही उचित है।

ब्राह्मण को चाहिए कि वह ब्राह्म, प्राजापत्य अथवा दैव तीर्थ से ही नित्य आचमन करे, पित्र्य तीर्थ से कभी नहीं। अँगूठे की जड़ के नीचे ब्राह्म तीर्थ, कनिष्ठा अँगुली के नीचे प्राजापत्य तीर्थ और अँगुलियों के अग्र भाग में दैव तीर्थ की स्थिति मानी गई है। इसी तरह से अँगूठे और प्रदेशिनी अँगुली के बीच में पित्र्य तीर्थ मान्य है। मुख की शुद्धि के लिए पहले तीन बार आचमन करे, फिर मुँह को दो बार धोवे और नाक, कान एवं नेत्रों के साथ हृदय और सिर का जल से स्पर्श करे। पवित्रता को चाहने वाला धर्मात्मा विप्र एकान्त में पूर्व या उत्तर की ओर मुँह करके स्वच्छ जल से ब्राह्म तीर्थ से आचमन करे। ब्राह्मण हृदय तक, क्षत्रिय कंठ तक, वैश्य मुख तक और शूद्र होठ तक पहुँचे हुए आचमन के जल से पवित्र होता है। जब यज्ञोपवीत या वस्त्र दाहिने हाथ को बाहर निकाल कर बायें कन्धे पर रखा जाय, तब द्विज उपवीती (सव्य) कहलाता है। जब बायें हाथ को बाहर निकाल कर दाहिने कन्धे पर रखा जाय, तब प्राचीनावीती (अपसव्य) और कण्ठ में लटकाया जाय, तब उसे निवीती कहा जाता है।

मेखला, अजिन, दण्ड, यज्ञोपवीत और कमण्डलु का किसी कारणवश त्याग करना हो, तो उन्हें पानी में पधरा कर मन्त्रोच्चारपूर्वक विधिवत् उनको पुनः धारण करना चाहिए।

मनुस्मृति (२.३६-६४) के इस प्रकरण में उपनयन संस्कार से संबद्ध जो बातें बताई गई हैं, संक्षेप में उनको हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—यह संस्कार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का ही होता है। तदनुसार ही इनकी आयु का, चर्म और वस्त्र, मौंजी और यज्ञोपवीत तथा दण्ड और भिक्षा का पृथक्-पृथक् विधान है। भिक्षा और भोजन सम्बन्धी नियमों का उल्लेख कर यहाँ चतुर्विध तीर्थों का निरूपण किया गया है। हमारे लिए यह विषय विशेष रूप से अवधेय है। आचमन सम्बन्धी नियमों की चर्चा के उपरान्त यहाँ यज्ञोपवीत (जनेऊ) की उपवीती, प्राचीनावीती और निवीती नामक त्रिविध स्थितियों का भी परिचय दिया गया है। यह विशेष रूप से अवधेय है कि इस पूरे प्रकरण में शूद्र की चर्चा केवल आचमन के प्रसंग में आई है। चतुर्विध तीर्थों का और यज्ञोपवीत की इन त्रिविध स्थितियों का उल्लेख अमरकोश के ब्रह्मवर्ग में भी हुआ है, लेकिन अमरकोश को पढ़ता कौन है? इस प्रकरण के अन्त में (२.६४) मेखला, अजिन दण्ड, उपवीत और कमण्डलु की तथा आगे (२.६९) शौच, आचार, अग्निकार्य और सन्ध्योपासन की चर्चा मिलती है। पूर्व (पृ० ८) सूचित सप्तविध व्रतबन्ध में

हम इनका यथायोग्य समावेश कर सकते हैं। मनुस्मृति-प्रोक्त अन्य विषयों का समावेश हम आश्रम प्रकरण में करेंगे।

वस्तुत: देखा जाय तो आजकल उपनयन और विवाह नामक दो संस्कार ही अग्नि की साक्षी में हमारे यहाँ मनाये जाते हैं और इन्हीं का विस्तार से वर्णन भी मिलता है। 'धर्मशास्त्र का इतिहास' इस विषय का साक्षी है। यहाँ यज्ञोपवीत (उपनयन) संस्कार का (२०८-२६१) पृष्ठों में तथा विवाह-संस्कार का २६८-३४७ पृष्ठों में अति विस्तार से वर्णन मिलता है। यहाँ हम अति संक्षेप में उन विषयों की सूचना देंगे, जिनकी चर्चा मनुस्मृति में हुई है।

भारतरत्न डॉ० पी०वी० काणे उपनयन संस्कार के उद्गम और विकास की चर्चा करते हुए कहते हैं कि संस्कार का मूल भारतीय एवं ईरानी है, क्योंकि प्राचीन जरथुष्ट्र (पारसी = ईरानी) शास्त्रों के अनुसार पवित्र मेखला और अधोवसन का सम्बन्ध आधुनिक पारसियों से भी है। वे उपनयन और ब्रह्मचारी शब्दों के इतिहास को बताते हुए कहते हैं कि प्रारम्भिक काल में उपनयन पर्याप्त सरल संस्कार था। भावी विद्यार्थी समिधा काष्ठ के साथ गुरु के पास जाता था और उनसे अपनी इच्छा प्रकट कर ब्रह्मचारी के रूप में उनके पास ही रहने देने की प्रार्थना करता था। उन्होंने अनेक उदाहरण देकर इस विषय को समझाया है (पृ० २०८-२११)।

आगे उपनयन के लिए उचित अवस्था एवं काल (पृ० २११-२१३), वस्त्र और दण्ड (पृ० २१३-२१४), मेखला (पृ० २१४), उपनयन-विधि (पृ० २१४-२१५), यज्ञोपवीत (पृ० २१५-२२१), अन्धे, बहरे, गूँगे आदि का उपनयन (पृ० २२१-२२२), सावित्री उपदेश (पृ० २२२-२२४), भिक्षा (पृ० २२५-२२७), सन्ध्या (पृ० २२७-२३१) जैसे उन सभी विषयों का विशद परिचय दिया गया है, जिनकी चर्चा ऊपर उद्धृत मनुस्मृति के अंशों में की गई है। यहाँ इन सभी विषयों का स्वरूप अनेक सूत्र-ग्रन्थों, स्मृति-ग्रन्थों और निबन्ध-ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत हुआ है। यहाँ उपनयन संस्कार की जो विधि प्रदर्शित है, वह आजकल प्रचलित विधि का पूरा अनुसरण करती है। मनुस्मृति में उपवीती आदि शब्दों की चर्चा आयी है। तैत्तिरीय संहिता (२.५.२.१) में बताया गया है कि निवीत शब्द मनुष्यों, प्राचीनावीत पितरों तथा उपवीत देवताओं से सम्बद्ध कार्यों को करते समय किया जाता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण, गोभिलगृह्यसूत्र आदि के प्रमाण से इस विषय के अतिरिक्त अन्य स्थितियों में यज्ञोपवीत के विविध उपयोगों की चर्चा की गई है। यज्ञोपवीत विषयक अन्य उपयोगों की भी चर्चा करते हुए अन्त में नवीन यज्ञोपवीत के धारण की विधि भी संक्षेप में प्रदर्शित है।

सन्ध्या-वन्दन के प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ आचमन, प्राणायाम, मार्जन, अघमर्षण, अर्घ्यप्रदान, गायत्रीजप एवं उपस्थान के अतिरिक्त न्यासों और मुद्राओं का भी समावेश कर लिया गया है, जिनका विधान आगम-शास्त्रों में हुआ है। न्यासों का उपयोग साधक अपने शरीर को देवमय बनाने के लिए करता है और विविध हस्त-मुद्राओं की रचना देवताओं के आवाहन आदि के लिए की जाती है। यहाँ बताया गया है कि हिन्देशिया के वालि द्वीप में मुद्राओं का प्रचार देखने को मिलता है। कम्बोडिया में आठवीं से दसवीं शताब्दी तक के भारतीय राजाओं के उपलब्ध शिलालेखों में बृहत्तर भारत में भारतीय शास्त्रों की उपस्थिति की सूचना मिलती है।

१२. वेदाध्ययन (स्वाध्याय)

उपनीत शिष्य आचार्य के पास रहकर वेदाध्ययन करता था। आज का शिक्षक उस समय आचार्य, गुरु या उपाध्याय कहलाता था। मनुस्मृति (२.१४०-१४२) में क्रमशः आचार्य, उपाध्याय और गुरु के लक्षण दिये गये हैं। मनुस्मृति का ही—"गुरु को चाहिए कि शिष्य का उपनयन संस्कार कर वेदाध्ययन कराते समय प्रारम्भ में शौच, आचार, अग्निसेवा (हवन) तथा संध्योपासन की शिक्षा दे"। यह पूरा प्रकरण (२.६९-८४) वेदाध्ययन से ही संबद्ध है। यहाँ आगे ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का निर्देश किया गया है। उनका परिचय 'धर्मशास्त्र का इतिहास' (पृ० २३१-२६१) में वेदाध्ययन सम्बन्धी शिक्षक, शिक्षणकार्य, गुरु का वासस्थान जैसे विषयों का तथा ब्रह्मचारी के द्वारा पालनीय नियमों में अभिवादन आदि विषयों का, ब्रह्मचर्य की अवधि, अध्ययन के विषयों का, क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रों की शिक्षा-पद्धति, प्राचीन शिक्षा-पद्धति की विशेषता, चार वेदव्रत, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, अनध्याय जैसे विषयों का भी विशद विवेचन मिलता है। इनमें से ब्रह्मचारी के लिए निर्दिष्ट कुछ आवश्यक विषयों का परिचय हम वर्णाश्रम-व्यवस्था वाले प्रकरण में देंगे।

१३. केशान्त (गोदान)

इस संस्कार के विषय में मनुस्मृति (२.६५) में बताया गया है कि ब्राह्मण का यह संस्कार १६वें वर्ष में, क्षत्रिय का २२वें और वैश्य का २४वें वर्ष में किया जाता है। यह संस्कार गोदान के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसमें सिर के तथा शरीर के अन्य भाग (काँख, दाढ़ी) के केश बनाये जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण (३.१.२.४) में दीक्षा के प्रसंग में कान के ऊपर सिर के एक भाग के बाल बनाने को गोदान कहा गया है। भवभूति के उत्तररामचरित के पहले अंक में सीता के

मुख से यह कहलवाया गया है कि राम तथा उनके तीनों भाइयों का गोदान-संस्कार विवाह के कुछ ही दिन पूर्व किया गया था।

केशान्त या गोदान की विधि बहुत-कुछ चूडाकरण के समान ही है। इस संस्कार में गुरु को गौ का दान किया जाता है। इसीलिए इसके लिए गोदान शब्द भी प्रयोग में आने लगा। कालान्तर में यह संस्कार समाप्त हो गया। कुछ गृह्यसूत्रों में बताया गया है कि इस संस्कार में भी शिखासहित सम्पूर्ण सिर का मुण्डन होता है।

१४. समावर्तन (स्नान)

वेदाध्ययन के उपरान्त का स्नान-कर्म तथा गुरु-गृह से लौटते समय का संस्कार समावर्तन (स्नान) कहलाता है। प्राचीन ग्रन्थों में से कुछ में समावर्तन शब्द का तथा अन्यत्र स्नान शब्द का प्रयोग मिलता है। इसके लिए 'आप्लवन' शब्द भी प्रयुक्त होता है। मनुस्मृति (३.४) में भी इसकी चर्चा मिलती है। उसको देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कार का नाम समावर्तन है और स्नान (अभिषेक) इसकी मुख्य प्रक्रिया है। अपरार्क ने स्नान एवं समावर्तन में अन्तर बताया है—स्नान का तात्पर्य है विद्यार्थी जीवन की परिसमाप्ति, अत: जो व्यक्ति जीवनभर नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहना चाहता है, उसका समावर्तन संस्कार नहीं किया जाता। समावर्तन का शाब्दिक अर्थ है, गुरु-गृह से अपने गृह को लौट आना। यदि कोई बालक अपने पिता से ही पढ़ता है, तो शाब्दिक अर्थ में उसका समावर्तन नहीं हो सकता। मेधातिथि (मनु० ३.४) का कहना है कि समावर्तन विवाह का कोई आवश्यक अंग नहीं है, अत: जो पितृगृह में ही वेदाध्ययन करता है, वह बिना समावर्तन के ही विवाह कर सकता है। ब्रह्मचारी और स्नातक के अर्थ को स्पष्ट करते हुए शतपथ ब्राह्मण (११.३.३.७) में बताया गया है कि स्नातक को भिक्षा नहीं माँगनी चाहिए।

वेदाध्ययन के उपरान्त ब्रह्मचारी के लिए स्नान-क्रिया का विधान है। अध्ययन के उपरान्त गुरु से दक्षिणा माँगने की प्रार्थना की जाती है और गुरु का आदेश मिल जाने पर स्नान किया जाता है। स्नान किये हुए व्यक्ति को स्नातक कहा जाता है। इस स्नातक को तीन कोटियों में बाँटा जाता है—१. विद्या स्नातक (या वेद स्नातक), २. व्रत स्नातक तथा ३. विद्याव्रत स्नातक (या वेदव्रत स्नातक)। जिसने वेदाध्ययन पूरा कर लिया हो, किन्तु व्रतों को पूरा न किया हो, वह विद्या स्नातक कहलाता है। जिसने व्रत पूरे कर लिए हों, किन्तु वेदाध्ययन पूरा न किया हो, वह व्रत-स्नातक कहलाता है। जिसने व्रत एवं वेद दोनों को पूरा कर लिया हो, वह विद्याव्रत स्नातक कहलाता है। मनुस्मृति (११.१-२) में नौ प्रकार के स्नातक परिभाषित हैं।

स्नान तथा विवाह करलेने के बीच में लम्बी अवधि पाई जा सकती है। इस अवधि में व्यक्ति स्नातक कहलावेगा। विवाह के बाद व्यक्ति गृहस्थ कहलाता है।

समावर्तन संस्कार की संक्षिप्त विधि इस प्रकार है—गुरुगृह से लौटते समय ब्रह्मचारी को ११ वस्तुएँ जुटा कर रखनी चाहिये। जैसे कि गले में लटकाने के लिए एक रत्न, कानों के लिए दो कुण्डल, एक जोड़ा परिधान, एक छाता, एक जोड़ा जूता, एक लाठी, एक माला, शरीर पर लगाने के लिए चूर्ण (पाउडर), उबटन, अंजन और पगड़ी। आजकल उपनयन के उपरान्त जब बटुक काशी या कश्मीर में विद्याध्ययन के लिए निकल पड़ता है, तभी उसका मामा उसे मनाकर घर ले आता है और तभी समावर्तन संस्कार कर दिया जाता है। उस समय मामा की तरफ से प्राय: ये सभी वस्तुएँ मिलती हैं। ब्राह्मणों को भोजन कराने एवं गोदान का संकल्प लिया जाता है। गरम जल से स्नान कर नूतन परिधान धारण किये जाते हैं। आँखों में अंजन लगाने, कानों में कुण्डल धारण करने, उबटन लगाने, माला धारण करने, जूता पहिनने, छाता तथा लाठी हाथों में लेने, गले में रत्न धारण करने और सिर पर पगड़ी पहिनने के उपरान्त मन्त्रोच्चारपूर्वक अग्नि में आहुतियाँ दी जाती हैं।

स्नातक

कूर्मपुराण के उपरि विभाग के १२-३० अध्यायों में व्यासगीता स्थित है। यहाँ के १५वें अध्याय के प्रारम्भ के आठ श्लोकों में स्नातक के कर्तव्यों का निरूपण किया गया है। तदनुसार चारों वेदों का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद ब्रह्मचारी को समावर्तन स्नान करना चाहिए। वेदाध्ययन के उपरान्त का स्नान-कर्म, गुरु-गृह से लौटते समय का संस्कार स्नान या समावर्तन कहलाता है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचारी को एक वेद, दो वेद, तीन वेद अथवा चारों वेदों का अध्ययन एवं उनके अर्थ का ज्ञान प्राप्त कर लेने के उपरान्त समावर्तन स्नान करना चाहिए। गुरु को दक्षिणा प्रदान कर उसकी आज्ञा से समावर्तन स्नान करे। व्रतानुष्ठान समाप्त करने के उपरान्त एकाग्रचित समर्थ पुरुष समावर्तन स्नान का अधिकारी होता है।

स्नातक को बाँस का दण्ड, अन्तर्वास अर्थात् भीतरी वस्त्र, उत्तरीय अर्थात् ऊपरी चादर, दो यज्ञोपवीत, जलयुक्त कमण्डलु, छाता, स्वच्छ पगड़ी, खड़ाऊँ, जूता, स्वर्णकुंडल धारण करना चाहिए। उसके लिए वेद का ज्ञान अति आवश्यक है। उसे नित्य वेद-पाठ करना चाहिए। किसी के साथ कठोर वचन नहीं बोलना चाहिए। प्रिय वचन बोले और दूसरों की वस्तु कभी न ले। इसी प्रकार वह दूसरों के द्वारा प्रयुक्त उपवीत, अलंकार, कुश एवं कृष्णमृग के चर्म का भी प्रयोग न करे।

वैदिक साहित्य, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थों में इस संस्कार का विस्तार से वर्णन किया गया है। समावर्तन-स्नान और विवाह-संस्कार के बीच लम्बी अवधि पाई जा सकती है। इस अवधि में व्यक्ति स्नातक कहलाता है। आजकल समावर्तन की क्रिया उपनयन के थोड़े समय के उपरान्त प्रायः उसी दिन कर दी जाती है।

आजकल वेदाध्ययन प्रायः समाप्त-सा हो गया है। अतः यह संस्कार दिखावा-मात्र रह गया है। आजकल उपाधि-पत्र का वितरण करते समय इसका एक नया स्वरूप हमारे सामने आ गया है।

१५. विवाह

मनुस्मृति के ३-५ अध्यायों में विवाह-संस्कार और गृहस्थाश्रम के धर्मों का विस्तार से वर्णन मिलता है। तृतीय अध्याय के ६६ श्लोकपर्यन्त विवाह-संस्कार का और आगे गृहस्थाश्रम के धर्मों का वर्णन है। यहाँ हम विवाह-संस्कार से संबद्ध सामग्री की समीक्षा करते हैं।

प्रारम्भ (३.१-२) में यहाँ बताया गया है कि ३६ वर्ष तक, १८ वर्ष तक, ९ वर्ष पर्यन्त या ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन के अन्त तक, तीनों वेदों को, दो वेदों को या एक वेद को गुरु से यथाविधि पढ़ लेने के उपरान्त व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे, अर्थात् अपना विवाह कर ले। ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए वह पहले समावर्तन संस्कार को यथाविधि सम्पन्न कर तब विवाह करे। ब्रह्मचर्य की अवधि के विषय में धर्मशास्त्र० (भा० १, पृ० २४२-२४३) में भी देखा जा सकता है।

यहाँ पहले विवाहयोग्य कन्या का लक्षण बताया गया है और कहा गया है कि धन-धान्य से समृद्ध होने पर भी दस कुलों के साथ विवाह-सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिए। कुल के साथ वर्जित कन्याओं का भी यहाँ परिगणन किया गया है। सवर्ण और असवर्ण विवाहों के गुण-दोषों की चर्चा करने के उपरान्त यहाँ आठ प्रकार के विवाहों की विशद चर्चा की गई है। इन विवाहों के नाम इस प्रकार हैं—१. ब्राह्म, २. दैव, ३. आर्ष, ४. प्राजापत्य, ५. आसुर, ६. गान्धर्व, ७. राक्षस और ८. पैशाच। इनके लक्षण वहाँ देखे जा सकते हैं (श्लो० २०-३४)। आगे एक श्लोक में बताया गया है कि ब्राह्मणों का कन्यादान जल-मात्र से तथा अन्य वर्णों का कन्यादान आपसी समझ के अनुसार किया जाता है, इसकी सूचना देने के उपरान्त इन आठों विवाहों के गुण-दोषों की सूचना देते हुए बताया गया है कि सवर्ण विवाह ही सर्वश्रेष्ठ है। इसके उपरान्त असवर्ण विवाहों के लिए भी कुछ विधान वर्णित हैं।

विवाह के उपरान्त ऋतुकाल में स्त्री-सहवास को यहाँ आवश्यक माना है। इसी प्रसंग में (३.५०) ब्रह्मचारी की परिभाषा भी दी गई है। कन्या के पिता के द्वारा शुल्क न लेने तथा पूरे परिवार में इनके आदृत होने के प्रसंग में ही यहाँ—'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:' (३.५६) यह श्लोक उपलब्ध है। पति और पत्नी की आपस की संतुष्टि और असंतुष्टि से ही कुलों की समृद्धि और असमृद्धि को बताते हुए स्मृतिकार कुलों के विनाश और समृद्धि के कारणों को भी बताते हैं।

भारतवर्ष में विवाह-संस्कार को सर्वोत्कृष्ट महत्ता प्रदान की गई है। विवाह-सम्बन्धी बहुत से शब्द संस्कार के तत्त्वों की ओर संकेत करते हैं। जैसे—उद्वाह (कन्या को उसके पितृ-गृह से उच्चता के साथ ले आना), विवाह (विशिष्ट ढंग से कन्या को ले आना या अपनी स्त्री बनाने के लिए ले आना), परिणय या परिणयन (अग्नि की प्रदक्षिणा करना), उपयम (संनिकट ले आना और अपना बना लेना) एवं पाणिग्रहण (कन्या का हाथ पकड़ना)। यद्यपि ये शब्द विवाह-संस्कार का केवल एक-एक तत्त्व बताते हैं, किन्तु शास्त्रों ने इन सब शब्दों का प्रयोग किया है और इस संस्कार के उत्सव के कतिपय कर्मों को इनमें समेट लिया है।

विवाह-संस्कार की स्थापना के पूर्व भारतवर्ष में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध किस प्रकार के थे? इसके विषय में महाभारत (आदि० १३२.४.७) में पाण्डु ने कुन्ती से कहा है कि प्राचीन काल में स्त्रियाँ संयम के बाहर थीं। यह स्थिति पाण्डु के काल में भी उत्तरकुरु में विद्यमान थी। उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने सर्वप्रथम इस प्रकार के असंयमित जीवन का विरोध किया और नियम बनाया कि स्त्री पुरुष के प्रति या पुरुष स्त्री के प्रति निष्ठावान् रहे। इसके अभाव में वे भयंकर अपराध एवं पाप के भागी होंगे। इस विषय की चर्चा सभापर्व (३१.३७-३८) में भी है।

ऋग्वेद के अनुसार विवाह का उद्देश्य गृहस्थ बनकर देवों के लिए यज्ञ करना तथा सन्तानोत्पत्ति करना था। स्त्री को 'जाया' कहा गया है, क्योंकि पति पत्नी के गर्भ से पुत्र के रूप में जन्म लेता है। पत्नी पति की अर्धांगिनी है, अत: जब तक व्यक्ति विवाह नहीं करता, जब तक सन्तानोत्पत्ति नहीं करता, तब तक वह पूर्ण नहीं है। विवाह के दो प्रमुख उद्देश्य माने गये हैं—१. पत्नी पति को धार्मिक कृत्यों के योग्य बनाती है, २. वह पुत्र या पुत्रों की माता होती है और पुत्र ही परिवार की नरक से रक्षा करता है। मनुस्मृति (९.२८) का कहना है कि पुत्रोत्पत्ति, धार्मिक कृत्य, सेवा, उत्तम रति और पितरों के तथा अपने स्वर्ग-प्राप्ति के कार्य पत्नी के ही अधीन हैं। स्पष्ट है कि धर्म-संपत्ति, प्रजा-प्राप्ति एवं रति—

ये तीन विवाह-सम्बन्धी प्रमुख उद्देश्य हैं। पत्नी के महत्त्व पर भारतीय धर्मशास्त्रों में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

अच्छे वर के लक्षण क्या हैं? वर का चुनाव किस प्रकार होना चाहिए? इस तरह के प्रश्नों पर भारतीय धर्मशास्त्रों में पर्याप्त विचार मिलता है। कन्या के चुनाव के विषय में भी बहुत-सी बातें कही गई हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि कन्या से विवाह करते समय चार बातें देखनी चाहिए। वे हैं—धन, सौन्दर्य, बुद्धि और कुल। यदि चारों गुण न मिलें, तो धन की चिन्ता नहीं करनी चाहिए और उसके उपरान्त सौन्दर्य की भी। बुद्धि और कुल में किसको महत्ता दी जाय, इसके विषय में मतभेद है। किसी ने बुद्धि को और अन्य ने कुल को महत्त्व दिया है। विवाह के पाँचवें कारण के रूप में विद्या का भी ग्रहण किया गया है। आजकल इसी की महत्ता बढ़ गई है।

कन्या का चुनाव, प्रतिबन्धक तत्त्व, विवाह की अवस्था, चतुर्थी कर्म, अनुलोम-प्रतिलोम विवाह, असवर्ण विवाह, सपिण्ड विवाह, मामा की लड़की से विवाह, स्त्री-गोत्रविषयक विचार, विरुद्ध सम्बन्ध, गोत्र-प्रवर विचार जैसे विषयों पर काणे महोदय ने अपने ग्रन्थ के प्रथम भाग (पृ० २७०-२९६) में पर्याप्त विचार किया है। मनुस्मृति (३.२१) में वर्णित आठ प्रकार के विवाहों की भी यहाँ (धर्म०, पृ० २९६-३००) विशद चर्चा हुई है। यहाँ बताया गया है कि स्वयंवर को धर्मशास्त्रों ने व्यावहारिक रूप में गान्धर्व विवाह के समान ही माना है।

विवाह के धार्मिक कृत्य, वर-वधू के गुणों की परीक्षा, विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए दूत-प्रेषण, वाग्दान, मण्डप-करण, नान्दीश्राद्ध एवं पुण्याह- वाचन, वधू-गृहगमन, मधुपर्क, स्नापन, परिधापन एवं संनहन, प्रतिसर बन्धन से लेकर मण्डप को हटाने के साथ आवाहित देवताओं के विसर्जन पर्यन्त सभी वैवाहिक विधि-विधानों की लम्बी सूची देकर उनका स्पष्ट स्वरूप बताया गया है। इनमें कन्यादान, अग्निस्थापन और होम, पाणिग्रहण, अश्मारोहण, सप्तपदी, हृदयस्पर्श, ध्रुवनक्षत्र एवं अरुन्धती दर्शन जैसे क्रियाकलापों से हम सभी परिचित हैं और ये सब विवाह-संस्कार के ही अंग हैं (धर्म०, पृ० ३०१-३०६)।

विवाह से सम्बद्ध दो महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को यहाँ उठाया गया है— १. विवाह कब सम्पादित एवं अनन्यथा करणीय माना जाता है? और २. यदि धोखे से या बलवश विवाह कर लिया जाय, तो क्या किया जा सकता है? मनु आदि को उद्धृत कर इन प्रश्नों का यहाँ धर्मशास्त्रीय समाधान प्रस्तुत किया गया है (पृ० ३०६-३०७)।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ के नवें अध्याय में विवाह-संस्कार से सम्बद्ध विषयों का विशद विवेचन किया गया है। आगे के १०-१४ अध्यायों में भी

विवाह-संस्कार के विविध आयामों को दिखाया गया है। जैसे कि १०वें अध्याय में मधुपर्क की विधि को समझा कर इसके ब्राह्म, ऐन्द्र, सौम्य, पौष्ण, सारस्वत, मौसल, वारुण, श्रावण और परिव्राजक नामक नौ भेदों को बताया गया है। इसी प्रकरण में कुम्भ विवाह, अश्वत्थ विवाह और अर्क विवाह की विधि भी वर्णित है। परिवेदन शीर्षक से परिवेत्ता, परिवित्ति आदि के भेदों को समझाया गया है। 'परिवेत्तानुजोऽनूढे' इत्यादि श्लोकों में अमरकोश में भी यह विषय देखने को मिलता है।

११वें अध्याय में बहुपत्नीकता, बहुभर्तृकता तथा विवाह के अधिकार और कर्तव्य के पक्ष को उजागर किया गया है। व्यभिचार, स्त्रियों की दशा जैसे विषय भी चर्चित हैं। १२वें अध्याय में विधवा धर्म, स्त्रियों के कुछ विशेष अधिकार एवं परदा प्रथा पर प्रकाश डाला गया है। १३वें अध्याय में नियोग की चर्चा है। आर्यसमाज के उदय के साथ यह विषय यहाँ ज्यादा ही चर्चित हो गया है। १४वें अध्याय में विधवा-विवाह और विवाह-विच्छेद जैसे विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकरण में सात प्रकार की पत्नियाँ चर्चित हैं। पुनर्भू के तीन और स्वैरिणी के चार प्रकारों का वर्णन करने के बाद अन्य मत-मतान्तरों की भी चर्चा की गई है। पुनर्विवाह की विभिन्न स्थितियों को भी यहाँ बताया गया है। इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि पुनर्विवाह एवं विवाह-विच्छेद (तलाक) इन दोनों विषयों पर यहाँ भारतीय धर्मशास्त्र की दृष्टि से ही विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

१६. अन्त्येष्टि

मनुस्मृति (२.१६) में मन्त्रोच्चार के साथ निषेक (गर्भाधान) से लेकर श्मशान (अन्त्येष्टि) पर्यन्त संस्कारों का विधान है। इनमें अन्त्येष्टि अन्तिम संस्कार है। ये संस्कार स्त्रियों और शूद्रों के लिए भी हैं, किन्तु उनमें वैदिक मन्त्रों का उपयोग नहीं होता। केवल विवाह-संस्कार ही ऐसा है, जिसमें स्त्रियों के लिए भी वैदिक मन्त्रों का विधान है। धर्मशास्त्र के सभी ग्रन्थों में जन्म-संस्कार और मृतक-संस्कार को आवश्यक माना गया है। स्त्री, बालक, परिव्राजक, दूर देश में मरने वाला, अकाल मृत्यु, आत्महत्या जैसे प्रसंगों में अन्त्येष्टि-कृत्य भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। पितृयज्ञ, पितृमेध, पिण्ड-पितृयज्ञ के रूप में यह संस्कार ऋग्वेद और शुक्ल यजुर्वेद आदि में भी वर्णित है।

धर्मशास्त्र के इतिहास (पृ० ११९०-११५६) में इसका भी बहुत विस्तार के साथ विवरण दिया गया है। आहिताग्नि (अग्निहोत्री) की अन्त्येष्टि-क्रिया पूरे वैदिक विधि-विधानों के साथ की जाती है। वे सभी यज्ञपात्र, जिनकी सहायता

से अग्निहोत्री दर्श-पूर्णमास आदि अनुष्ठानों को सम्पन्न करता है, उसके चिता पर स्थित शव के विभिन्न अंगों में रख दिये जाते हैं। कुछ पात्रों को दान में देने अथवा उनके जलप्रवाह की भी अनुमति दी गई है।

जिसका उपनयन संस्कार हो चुका है, उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया उसी प्रकार की जाती है, जिस प्रकार श्रौत अग्निहोत्र करने वाले की। अन्तर केवल इतना ही होता है कि अग्निहोत्री को तीनों वैदिक अग्नियों के साथ जलाया जाता है, जिसके पास केवल स्मार्त या औपासन अग्नि होती है, वह उसके साथ जलाया जाता है और साधारण लोगों का शव साधारण अग्नि से जलाया जाता है। अन्त्येष्टि क्रिया के लिए अशुद्ध अग्नि का प्रयोग वर्जित है।

अन्त्येष्टि-क्रिया से सम्बद्ध अनेक विषयों की यहाँ चर्चा है। यहाँ पौराणिक मन्त्रों के उच्चारण का विधान है। अन्त्येष्टिकर्ता को चिता की परिक्रमा करनी चाहिए और उसके उस भाग में अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए, जहाँ सिर रखा हुआ है। शव को ले जाने के विषय में भी कई प्रकार के नियमों की व्यवस्था है। ब्राह्मण के मृत शरीर को ढोने वाले की बड़ी प्रशंसा की गई है। बताया गया है कि जो व्यक्ति ऐसा करता है, वह प्रत्येक पग पर एक-एक यज्ञ के सम्पादन का फल पाता है और केवल पानी में डुबकी लगाने और प्राणायाम से ही पवित्र हो जाता है। शुल्क लेकर शव ढोने वाले की यहाँ निन्दा की गई है।

अन्त्येष्टि-क्रिया के अंग के रूप में कर्ता के वपन (मुंडन) के विषय में भी कई नियम निर्दिष्ट हैं। शवदाह के समय घोर रुदन का विधान है, किन्तु दाह-कर्म और जल-तर्पण के उपरान्त रुदन कार्य का निषेध किया गया है। उदकक्रिया, जलदान (तर्पण), तिलोदक दान, अस्थिसंचयन, विशेष स्थितियों में आकृतिदहन (पुत्तलविधान), दाह कर्म अथवा भूनिक्षेप (गाड़ना) जैसे विषय भी यहाँ चर्चित हैं।

विभिन्न कालों एवं विभिन्न देशों में शवक्रिया (अन्त्येष्टि) विभिन्न ढंगों से की जाती रही है। इसके विभिन्न प्रकार ये हैं—जलाना (शव-दाह), भूमि में गाड़ना, जल में बहा देना, शव को खुला छोड़ देना, जिससे चील, गिद्ध, कौए या पशु आदि उसे खा डालें, जैसे पारसियों में, गुफाओं में सुरक्षित रख छोड़ना या ममी के रूप में (जैसे मिस्र में) सुरक्षित रख छोड़ना। जहाँ तक हमें साहित्यिक प्रमाण मिलता है, भारत में सामान्य नियम शव को जला देने का था, किन्तु विशिष्ट परिस्थितियों में शिशुओं और संन्यासियों के भूनिक्षेप अथवा जल-प्रवाह का भी प्रचलन मिलता है। शवदाह और भूनिक्षेप की यहाँ अच्छी ऐतिहासिक समीक्षा की गई है। इसी प्रसंग में बौद्धों की अन्त्येष्टि क्रिया भी चर्चित है।

अस्थि-संचयन वह कृत्य है, जिसमें शवदाह के उपरान्त जली हुई अस्थियाँ एकत्र की जाती हैं। अस्थि-संचयन किस दिन किया जाय, इस विषय में मतैक्य नहीं है, तो भी शवदाह के तीसरे दिन प्रायः यह कृत्य सम्पन्न होता है। संचित अस्थियों को गंगा आदि पवित्र नदियों में बहा देने तथा त्रिस्थली (प्रयाग, वाराणसी और गया) में सम्पन्न होने वाले श्राद्धों के अवसर पर उनको विसर्जित करने का विधान है। अस्थि-संचयन के प्रसंग में ही यहाँ समाधि, स्तूप आदि के निर्माण का विधान भी प्रदर्शित है।

अन्त्येष्टि-क्रिया और श्राद्ध के अधिकारियों की विशद चर्चा के उपरान्त श्राद्ध की विभिन्न स्थितियों की और सपिण्डीकरण के सम्पन्न हो जाने पर प्राप्त होने वाले आतिवाहिक देह की प्राप्ति की चर्चा के साथ यह प्रकरण पूरा होता है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ के इस प्रथम परिच्छेद में भारतीय समाज में, विशेष कर यहाँ के मूल निवासी सनातन धर्म का अनुपालन करने वाले प्रबुद्ध मानव-समाज में चिरकाल से प्रचलित संस्कारों का सामान्य और षोडश संस्कारों का विशेष परिचय दिया गया है। अगले द्वितीय परिच्छेद में इसी पद्धति से वर्णाश्रम-व्यवस्था पर प्रकाश डाला जायेगा।



द्वितीय परिच्छेद

वर्णाश्रम व्यवस्था

ऋग्वेद में वर्ण शब्द रंग या प्रकाश के अर्थ में आया है। कहीं-कहीं वर्ण का सम्बन्ध ऐसे जनगण से है, जिनकी चमड़ी काली है या गोरी। तैत्तिरीय ब्राह्मण में आया है कि ब्राह्मण दैवी वर्ण का है और शूद्र आसुर्य वर्ण का। आसुर्य वर्ण का अर्थ ही शूद्र जाति है। ऋग्वेद में आर्य लोग काले वर्ण वाले लोगों से पृथक् कहे गये हैं। धर्मसूत्रों में शूद्रों को काले वर्ण का कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण (५.४.६.९) में स्पष्ट रूप से आया है कि ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण ही भारतीय वर्णव्यवस्था के आधार हैं।

आश्रम शब्द संहिताओं या ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं मिलता, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि सूत्रों में पाये जाने वाले जीवन के भाग वैदिक काल में अज्ञात थे। अत्यन्त प्राचीन धर्मसूत्रों में चारों आश्रमों की चर्चा आई है। आश्रमों के सम्बन्ध में मनु का सिद्धान्त है कि मानव जीवन एक सौ वर्ष का होता है। इस आयु को हम चार भागों में बाँटते हैं। मनु (४.१) के अनुसार मनुष्य के जीवन का प्रथम भाग ब्रह्मचर्य आश्रम में बीतना चाहिए। इसमें व्यक्ति गुरुकुल में रहकर विद्याध्ययन करता है। दूसरे भाग में वह विवाह कर गृहस्थ हो जाता है (५.१६९)। जब व्यक्ति अपने सिर पर सफेद बाल देखता है, वह वानप्रस्थ हो जाता है (६.१-२)। इस प्रकार वन में जीवन का तृतीय भाग बिता कर शेष भाग को संन्यासी के रूप में व्यतीत करता है। आश्रम के विषय में इसी प्रकार के नियम अन्य स्मृतियों में भी मिलते हैं।

भारतीय वर्ण और आश्रम व्यवस्था का यही अति संक्षिप्त स्वरूप है। इसके सम्यक् पालन से व्यक्ति कर्म-मार्ग के द्वारा भी मोक्ष पदवी को प्राप्त कर सकता है। सनातन धर्म के ये मूल आधार हैं।

प्रत्येक सनातनी धार्मिक कार्य करते समय संकल्प-वाक्य का उच्चारण करता है। उसमें श्वेत वाराह कल्प और वैवस्वत मन्वन्तर की चर्चा हुई है। ये भारतीय कालगणना के अंग हैं। एक हजार दिव्य युगों का ब्रह्मा का एक दिन और इतने की ही रात्रि मानी गई है। ब्रह्मा के एक दिन में १४ मनु होते हैं। स्वायंभुव, सावर्णि आदि इनके नाम हैं। प्रत्येक मनु का शासन काल ७१ दिव्य

युगों का माना गया है। मन्वन्तर के नाम से यह प्रसिद्ध है। प्रत्येक मन्वन्तर के मनु, इन्द्र, देवगण, सप्तर्षि और मनुपुत्र—ये पाँच अंग हैं। किसी न किसी अंशावतार की भी यहाँ स्थिति रहती है। अपने-अपने शासनकाल में ये वर्णाश्रम व्यवस्था की रक्षा करते हैं। एक हजार दिव्य युगों तक यह १४ मनुओं की शासन-व्यवस्था चलती है। इसी के साथ ब्रह्मा का दिन, अर्थात् सृष्टिकाल समाप्त हो जाता है। रात्रि के प्रारम्भ के साथ प्रलय की स्थिति बन जाती है। पौराणिक कालमान के अनुसार ब्रह्मा के इस एक दिन-रात के काल को कल्प कहते हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण (१.५.१२-१५) में ब्राह्म, पाद्म और वाराह कल्प की त्रिविध सृष्टि का वर्णन मिलता है। ब्राह्म कल्प में पृथ्वी मधु और कैटभ की मज्जा से बनी थी, पाद्म कल्प में विष्णु के नाभि-कमल से पृथ्वी निकली तथा वाराह कल्प में वराह रूपधारी विष्णु ने पृथ्वी का उद्धार किया। यह वाराह कल्प ही उक्त संकल्प-वाक्य में श्वेत वाराह के नाम से चर्चित है। पांचरात्र वैष्णव आगम की सात्वतसंहिता में पौष्कर (पाद्म), प्राजापत्य (ब्राह्म) और वाराह सर्ग के रूप में इनका ही वर्णन हुआ है, किन्तु गलती से इनको संहिताओं का नाम दे दिया गया है। यह उचित नहीं है।

वर्ण व्यवस्था

ब्रह्मा ने अपने मुख से ब्राह्मणों को, भुजा से क्षत्रियों को, दोनों जंघाओं से वैश्यों को तथा चरणों से शूद्रों को उत्पन्न किया। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" इस मन्त्र में यही बताया गया है। इनके साथ ही चारों वेद ब्रह्मदेव के सहज स्वरूप से प्रादुर्भूत हुए, अर्थात् ब्रह्मा ने इस वेदमयी नित्य अविनाशिनी, आदि और अन्त से रहित दिव्य वाक्-शक्ति का आविर्भाव किया।

पूर्व कल्प में समस्त प्रजा सभी बाधाओं से रहित, शुद्ध हृदय वाली, सदा अपने धर्म का पालन करने वाली थी। समयानुसार उसमें राग-द्वेष आदि दोष आ गये। इससे धर्म के प्रतिबन्धक अधर्म की उत्पत्ति हुई। सत्त्वगुण का लोप एवं रजोगुण प्रबल हो उठा। कालयोग से इनकी स्वाभाविक सिद्धि क्षीण होने लगी। तब वे कृषि, पशुपालन, शिल्प-कौशल आदि कार्य करने लगे। ब्रह्मा ने उनके कर्म एवं आजीविका की व्यवस्था की।

ब्रह्मा से उत्पन्न प्रथम स्वायंभुव मनु ने पूर्व काल में धर्म का उपदेश किया। तदनन्तर उनके मुख से सुन कर भृगु आदि ऋषियों ने उसका प्रचार किया। यज्ञ, दान, अध्ययन और अध्यापन ब्राह्मण के धर्म; दान, अध्ययन और

यज्ञ क्षत्रिय के और वैश्यों के धर्म हैं. क्षत्रिय के लिए दण्ड और युद्ध का तथा वैश्य के लिए कृषि का विधान है। द्विजातियों की सेवा करना शूद्र का धर्म है।

भगवद्गीता (४.१३) में श्रीकृष्ण कहते हैं कि गुणों एवं प्रवृत्तियों के आधार पर चार वर्णों की सृष्टि की गई है। वे ही आगे (१८.४१-४४) बताते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के उनके स्वाभाविक गुणों के आधार पर कार्यों का विभाजन किया गया है। शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान-विज्ञान और आस्तिक्य—ये ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण हैं। शौर्य, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान और सब पर शासन करने की शक्ति—ये क्षत्रिय के स्वाभाविक गुण हैं। कृषि, गोरक्षा (पशुपालन) और वाणिज्य वैश्य के स्वाभाविक कार्य हैं और तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्तव्य है।

मनुस्मृति में वर्णाश्रम व्यवस्था को अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है। ऐसा करने से पहले वहाँ ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश, मध्यदेश और आयावर्त के स्वरूप को बता कर कहा गया है कि द्विजाति को इन्हीं पवित्र देशों में से कहीं निवास करना चाहिए (२.१७-२४)। वहाँ बताया गया है कि सरस्वती और दृषद्वती नाम की देवनदियों के बीच का देवताओं के द्वारा निर्मित देश ब्रह्मावर्त कहलाता है। कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल (पंजाब), शूरसेन (मथुरा)—ये ब्रह्मर्षियों के निवास के योग्य स्थान हैं। ब्रह्मावर्त से यह ब्रह्मर्षि देश सटा हुआ है। हिमालय और विन्ध्य पर्वत के बीच का, विनशन (सरस्वती नदी) से पूर्व का और प्रयाग से पश्चिम का सारा प्रदेश मध्यदेश कहलाता है। पूर्व समुद्र ले लेकर पश्चिम समुद्र पर्यन्त और विन्ध्य एवं हिमालय पर्वतों के बीच का देश आर्यावर्त कहलाता है। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (३७.३८) में मध्यदेश को समस्त शास्त्रों का घर बताया है।

मनुस्मृति के नवें और दसवें अध्याय में चारों वर्णों से सम्बद्ध विधि-विधानों का विस्तार से वर्णन मिलता है। पूरे नवें अध्याय में राजधर्म का विस्तार से वर्णन करने के बाद अन्तिम कुछ श्लोकों (३००-३३६) में चारों वर्णों की सामान्य स्थिति में उनके द्वारा आचरणीय शुभ कर्मों का विधान बताया गया है। राजधर्म का प्रकरण होने से यहाँ पहले राजा के कर्तव्य बताये गये हैं।

थक जाने के बाद भी राजा बार-बार कार्य को करता ही रहे, क्योंकि बिना थके निरन्तर कार्य में लगे रहने वाले मनुष्य की लक्ष्मी स्वयं सेवा करती है। इसका अभिप्राय यह है कि राजा हार जाने पर भी बार-बार शत्रु पर चढ़ाई करता रहे। कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुग—ये सब राजा के ही आचरणविशेष हैं। इसलिए राजा ही युग कहलाता है। उद्यमरहित राजा कलियुग, जानकर भी

काम न करने वाला द्वापर, राज्य-कार्य में उद्यमशील राजा त्रेता और सब कार्यों को करता हुआ स्वच्छन्द विचरण करने वाला राजा कृतयुग का प्रतिनिधि है। राजा को चाहिये कि वह इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, चन्द्र, अग्नि और पृथ्वी के तेज का अनुसरण करे। इन्द्र वर्षा ऋतु के चार महीनों में जल बरसाता है, वैसे ही राजा भी इन्द्र-व्रत धारण कर देश की कामनाओं को पूरा करे। सूर्य आठ मास पर्यन्त धीरे-धीरे अपनी किरणों से जल खींचता है, उसी तरह राजा भी प्रजा से कर-ग्रहण करे। यह उसका अर्कव्रत है। जैसे प्राण-वायु सब प्राणियों के भीतर प्रविष्ट होकर विचरता है, उसी प्रकार राजा भी दूतों के माध्यम से सर्वत्र प्रवेश करे। यही उसका वायुव्रत है। समय आने पर यमराज जैसे मित्र और शत्रु पर समान रूप से नियमन करता है, उसी तरह राजा भी मित्र और शत्रु का विचार न कर सारी प्रजा का समान रूप से नियमन करे। यही यमव्रत है। जैसे पापी पुरुष को वरुण के पाश बाँध लेते हैं, उसी तरह राजा भी पापियों का निग्रह करे। यह वारुणव्रत है। जैसे पूर्ण चन्द्रमा को देख कर मनुष्य प्रफुल्लित हो उठता है, उसी तरह राजा को देखकर प्रजा प्रफुल्लित हो। यही चान्द्रव्रत है। राजा पापियों के लिए सदा प्रताप- युक्त एवं तेजस्वी रहे और प्रतिकूल (दुष्ट) मन्त्रियों के लिए क्रूर बने। यही उसका अग्निव्रत है। जैसे पृथ्वी सब प्राणियों को समभाव से धारण करती है, वैसे ही राजा सम्पूर्ण प्रजा का समभाव से पालन करे। यही राजा का पृथ्वीव्रत है। इन सब और अन्यान्य उपायों से राजा सदा आलस्यरहित होकर अपने और पराये राज्य के चोरों को पकड़े।

ब्राह्मणों की महिमा का बखान करते हुए आगे राजा से कहा गया है कि अत्यन्त विपद्ग्रस्त होने पर भी उसे कभी ब्राह्मणों पर क्रोध नहीं करना चाहिए, क्योंकि ब्राह्मण कुपित होने पर सेना और वाहन से युक्त राजा को तत्काल नष्ट कर देते हैं। जिन ब्राह्मणों ने क्रुद्ध होकर अग्नि को सर्वभक्षी बनाया, समुद्र के जल को पीने के अयोग्य बना दिया और क्षय रोग से युक्त चन्द्रमा को पूरा किया, अर्थात् उसका क्षय रोग दूर किया, ऐसे ब्राह्मणों को क्रोधित करके कौन नष्ट न होगा। जो ब्राह्मण अन्य लोक और लोकपालों को रच सकते हैं और देवताओं का देवत्व नष्ट कर सकते हैं, ऐसे ब्राह्मणों को कुपित कर कौन वृद्धि पा सकता है? जिन ब्राह्मणों के सहारे लोक और देवता सदा टिकते हैं और जिनका वेद ही धन है, उन ब्राह्मणों की हिंसा भला अपने जीवन की रक्षा चाहने वाला कौन करेगा? शास्त्रोक्त विधि से स्थापित हो या न हो अग्नि जैसे परम देवता है, उसी तरह से विद्वान् हो या अविद्वान्, ब्राह्मण देवस्वरूप ही है। जैसे तेजस्वी अग्नि श्मशान में होने पर भी अपवित्र नहीं होती, वरन यज्ञों में हवन करने से उसकी

तेजस्विता में वृद्धि ही होती है, उसी तरह ब्राह्मण के निन्दित कार्य में प्रवृत्त होने पर भी वह सर्वथा पूजनीय ही है, क्योंकि वह परम देवता है।

अतिसमृद्ध क्षत्रिय यदि ब्राह्मणों को पीड़ा देने लगे, तो उसे ब्राह्मण दण्डित करे, क्योंकि क्षत्रिय ब्राह्मण से पैदा हुआ है। जल से अग्नि, ब्राह्मण से क्षत्रिय और पत्थर से लोहा निकलता है। इसलिए इनका तेज अन्यत्र सफल होने पर भी अपने-अपने उत्पत्ति-स्थान में जाकर शान्त हो जाता है। ब्राह्मण के बिना क्षत्रिय की और क्षत्रिय के बिना ब्राह्मण की वृद्धि नहीं होती। परन्तु ब्राह्मण और क्षत्रिय के मिल जाने पर इस लोक और परलोक में भी उनकी वृद्धि होती है। राजा को चाहिए कि दंड से प्राप्त हुआ सारा धन ब्राह्मणों को देकर और पुत्र को राज्य सौंपकर वह युद्ध में प्राण त्याग करे। राजा सदा इसी भाँति राजधर्म में तत्पर रहकर सभी सेवकों को लोककल्याण के कार्य में लगावे। राजा की यही सनातन कार्यविधि है। इसी मार्ग पर उसे सदा चलना चाहिए।

क्षत्रिय एवं ब्राह्मण वर्ण की चर्चा के बाद मनुस्मृति में आगे (९.३२५) वैश्य और शूद्र की कर्म-विधि का वर्णन किया है। वैश्व यज्ञोपवीत संस्कार के बाद विवाह करे और कृषि एवं वाणिज्य में तथा पशुओं की रक्षा में लग जाय। प्रजापति ने पशु उत्पन्न कर वैश्य को दिये और सम्पूर्ण प्रजा को उत्पन्न कर उसका भार राजा और ब्राह्मण को सौंपा। वैश्य यह कभी न विचारे कि मैं पशु-पालन नहीं करूँगा। जब तक वैश्य पशुपालन की इच्छा रखे, तब तक राजा अन्य से यह काम कभी न करावे। वैश्य को चाहिए कि मणि, मोती, प्रवाल, लोहा, वस्त्र, सुगन्धित वस्तु और लवण आदि रस की खरीद-बिक्री पर ध्यान देता रहे। वैश्य बीज बोने की रीति, खेत के गुण-दोष, नाप-जोख की विधि का तथा तराजू का सही उपयोग जैसे विषयों पर सदा ध्यान देता रहे। सभी वस्तुओं की उत्तमता और हीनता, देशों के गुण-दोष, विक्री की वस्तुओं से लाभ-हानि और पशुओं की वृद्धि पर ध्यान देता रहे। नौकरों की मजदूरी, भिन्न-भिन्न देशों के मनुष्यों की भाषा, सब वस्तुओं के उपयुक्ततम स्थान और उनके परस्पर संयोग से होने वाले लाभ, इन सबके क्रय-विक्रय की पद्धति जैसे सभी विषयों की जानकारी रखे। वैश्य को चाहिए कि वह धर्मपूर्वक धन बढ़ाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहे और प्रयत्नपूर्वक सभी प्राणियों को अन्नदान करे।

वेदज्ञ ब्राह्मणों की और यशस्वी गृहस्थियों की सेवा करना शूद्र का परम कल्याणकारी धर्म है। देह और मन से शुद्ध, अपनी जाति से ऊँची जाति की सेवा करने वाला, मधुरभाषी, अहंकार रहित, ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की सेवा करने वाला शूद्र भी इनके सम्पर्क से उत्तम जाति का हो जाता है। इस प्रकार यहाँ चारों वर्णों के लिए सामान्य स्थिति में आचरणीय कर्तव्यों की शुभ विधि बताई गई है।

दसवें अध्याय के प्रारम्भ में भी बताया गया है कि अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए तीनों वर्ण (द्विजाति) वेदाध्ययन करें। इनमें से ब्राह्मण ही वेद बढ़ावे, क्षत्रिय और वैश्य नहीं। ब्राह्मण शास्त्र के अनुसार सभी वर्णों की जीविका के उपायों को जानकर तथा स्वयं भी सदा अपने कर्म में रत रहकर सब वर्णों को इनका विधिपूर्वक उपदेश करे। जाति की श्रेष्ठता से, उत्पत्ति स्थान की श्रेष्ठता से, वेद के पढ़ने-पढ़ाने के सारे नियमों का पालन करने से तथा उपनयन संस्कार की विशेषता के कारण ब्राह्मण सभी वर्णों में श्रेष्ठ है। उपनयन संस्कार के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों वर्ण द्विजाति कहलाते हैं। इस संस्कार के न होने से शूद्र एक जाति है। इनके सिवाय पाँचवां कोई वर्ण नहीं है। चारों वर्णों में विवाहिता, सवर्णा, अक्षतयोनि स्त्रियों में जो ब्राह्मण से ब्राह्मणी में, क्षत्रिय से क्षत्रिया में, इस अनुलोम क्रम से पैदा हुए हैं, उन्हें माता-पिता की जाति का ही माना जाता है। मनु आदि ने कहा है कि अपने से अनन्तर वर्ण की स्त्रियों में जो द्विजों ने पुत्र उत्पन्न किये हों, जैसे ब्राह्मण ने क्षत्रिया में और क्षत्रिय ने वैश्या में, वे पिता के समान ही माने जाते हैं, किन्तु माता के दोष के कारण इनमें निकृष्टता आ जाती है।

इस प्रकार चारों वर्णों का निरूपण करने के बाद मनुस्मृति (१०.७-६१) में अम्बष्ठ, निषाद, पारशव आदि संकर जातियों और उनके कर्तव्यों का, संकर दोष की निवृत्ति के उपायों का (६२-६८), बीज-क्षेत्र व्यवस्था का (६९-७३), चारों वर्णों के कृत्य एवं वृत्तियों का (७४-१००) और आपद्धर्मों (१०१-१३०) का वर्णन कर अन्तिम श्लोक में बताया गया है कि इस प्रकार यहाँ चारों वर्णों की सम्पूर्ण धर्मविधि प्रदर्शित है।

उपनयन संस्कार के प्रसंग में मनुस्मृति में वर्णों के अनुसार व्यवस्था दी गई है। जैसे कि द्विजाति और शूद्र के निवास की व्यवस्था (२.२४) और नामकरण विधान (२.३१-३३) में चारों वर्णों और स्त्रियों का अलग अलग उल्लेख है। उपनयन के प्रसंग (२.४१-६२) में द्विजाति के लिए चर्म, मेखला, उपवीत, दण्ड, भिक्षा, आचमन की अलग-अलग व्यवस्था है। आचमन के प्रसंग में शूद्र का भी उल्लेख है। केशान्त संस्कार भी द्विजाति का भिन्न-भिन्न वय में विहित है। संध्याविहीन ब्राह्मण को शूद्रवत् बताया गया है (२.१०३)। यहाँ चारों वर्णों के कुशल-क्षेम का प्रकार भी भिन्न-भिन्न बताया गया है। आगे (२.१३५-१३९; १५४-१५८) वर्णों के परस्पर के संमान के क्रम को और इनकी ज्येष्ठता के कारणों को दिखाया गया है। आगे (२.१६८) वेदाध्ययन न करने वाले द्विज को भी शूद्र के समान माना है। यहाँ (२.१९०) श्राद्ध-भोजन का अधिकारी ब्राह्मण

को ही माना गया है, क्षत्रिय और वैश्य को नहीं। आपत्काल में अब्राह्मण से भी अध्ययन करने की अनुमति दी गई है (२.२४१)।

उपनयन के समान विवाह-संस्कार के प्रसंग में भी वर्णों के अनुसार व्यवस्था देखने को मिलती है। सवर्ण विवाह की वरीयता को दिखाते हुए तथा आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन करते हुए यहाँ (३.१२-२६) चारों वर्णों के विवाहों की चर्चा की गई है। असवर्ण विवाह के समय की जाने वाली व्यवस्था भी यहाँ (३.४३-४४) उल्लिखित है। वर्णों के अनुसार अतिथि-सत्कार की व्यवस्था (३.११०-११३), दैव व पित्र्य कर्मों के निमित्त भोजन में ब्राह्मण की परीक्षा (३.१४९), अनधीत ब्राह्मण की हव्य-कव्य ग्रहण की अयोग्यता (३.१६८), चारों वर्णों के पितृगण (३.१९६-१९७), चारों वर्णों की शुद्धि का काल (५.८३), चारों वर्णों का श्मशान के लिए अलग-अलग द्वारों से निर्गमन (५.९२) तथा चारों वर्णों की शुद्धि का प्रकार भी यहाँ (५.९९) देखा जा सकता है।

मनु (१०.६३) ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय-निग्रह को चारों वर्णों का सामान्य धर्म बताया है, अर्थात् इन धर्मों का सभी को पालन करना है। वे ही यह भी कहते हैं कि जो ब्राह्मण सदा उत्तम से उत्तम कार्यों को करता रहता है और नित्यप्रति हीन आचरण से मुक्त रहता है, वही श्रेष्ठता की ओर आगे बढ़ता है। इसके विपरीत आचरण करने वाला ब्राह्मण शूद्र बन जाता है (४.२४५)। यही बात आगे (१०.६५) भी प्रकारान्तर से कही गई है कि शूद्र भी ब्राह्मण बन जाता है और ब्राह्मण भी शूद्र।

धर्मशास्त्र (भा० १, पृ० १०३-१०६) में वर्णधर्म, आश्रमधर्म और वर्णाश्रमधर्म जैसे शब्दों की व्याख्या करने के बाद मनुस्मृति (१०.६३) में स्मृत अहिंसा, सत्य आदि सामान्य धर्मों का विशद विवेचन किया गया है। साथ ही मनुस्मृति (२.१७-२३) में वर्णित ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि, मध्यदेश और आर्यावर्त नामक भारतीय प्रदेशों की स्पष्ट पहिचान बताने का भी प्रयत्न किया है (पृ० १०६-१०८)। यहाँ पूरे द्वितीय एवं तृतीय अध्याय (पृ० १०९-१६६) में सूत्र एवं स्मृति-ग्रन्थों में तथा धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थों में वर्णित वर्ण-धर्मों की विस्तार से पहिचान कराई गई है। प्रथमतः यहाँ वर्ण-व्यवस्था की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए विभिन्न जातियों के उद्भव को दिखाया है और चारों वर्णों के अनुलोम-प्रतिलोम विवाहों से उद्भूत जातियों की भी चर्चा की गई है (पृ० १०९-१२०)। वर्णसंकर, जात्युत्कर्ष एवं जात्यपकर्ष जैसे विषयों के साथ व्यवसाय-सम्बन्धी जातियों—श्रेणी, पूग, गण, व्रात एवं संघ जैसे शब्दों की भी अच्छी पहिचान कराई गई है (पृ० १२१-१२४)। आगे (पृ० १२५-१४१) ईसा

पूर्व ५०० से १००० ई० तक की उन सभी जातियों की सूची अकारादि क्रम से उपस्थित की गई है, जिनका उल्लेख उक्त ग्रन्थों में हुआ है।

आगे (पृ० १४२-१६६) वर्णों के कर्तव्य, अयोग्यताएँ एवं विशेषाधिकार शीर्षक के अन्तर्गत वेदाध्ययन, वेदाध्यापन, ब्राह्मण की वृत्ति, शूद्रों की स्थिति, सेनानियों के रूप में ब्राह्मण, ब्राह्मण और कृषि, विक्रय एवं विनिमय, ब्राह्मणों के प्रकार, ब्राह्मण तथा निम्न कोटि के व्यवसाय, ब्राह्मण तथा भिक्षा, ब्राह्मणों की महत्ता, शूद्रों की अयोग्यताएँ जैसे विषय विस्तार से चर्चित हैं। हमारे लिए इनमें से अन्तिम दो विषय विशेष अवधेय हो सकते हैं।

इसी प्रसंग में यहाँ (पृ० १६७-१७१) अस्पृश्यता का तथा आगे (पृ० १७२-१७५) दासप्रथा का ऐतिहासिक क्रम से परिचय प्रस्तुत किया गया है।

मनुस्मृति (१०.७५-१३१) में चारों वर्णों की वृत्तियों का तथा आपद्धर्मों का विशद परिचय दिया गया है। उसको प्रस्तुत करने के साथ ही वर्ण-विषयक इस प्रकरण को पूरा किया जा रहा है।

अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह—ये ब्राह्मण के छः कर्म हैं। इन छः कर्मों में से पढ़ाना, यज्ञ कराना और विशुद्ध व्यक्ति से दान लेना—ये तीनों ब्राह्मण-वृत्ति (जीविका) मानी गई हैं। ऊपर बताये गये छः कर्मों में से ब्राह्मणों के लिए निर्धारित यज्ञ कराना, पढ़ाना और दान लेना—ये तीन कार्य क्षत्रिय के लिए वर्जित हैं। क्षत्रिय की भाँति वैश्यों के लिए भी ये तीनों कर्म त्याज्य हैं। यही शास्त्र की व्यवस्था है, क्योंकि प्रजापति मनु ने क्षत्रिय और वैश्य के इन कर्मों का विधान नहीं किया। क्षत्रिय की जीविका के लिए शस्त्रास्त्र धारण करना तथा वैश्य की जीविका के लिए पशुपालन, कृषि और वाणिज्य का विधान है। दान, अध्ययन और यजन—ये इन दोनों के धर्म हैं। ब्राह्मण के लिए वेदाभ्यास, क्षत्रिय के लिए रक्षाकार्य और वैश्य के लिए वाणिज्य सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है।

यदि ब्राह्मण अपनी जीविका से जीवन-निर्वाह करने में असमर्थ हो, तो उसे क्षत्रिय की वृत्ति स्वीकार करनी चाहिए, क्योंकि यह उसके पास का वर्ण है। अपनी वृत्ति और क्षत्रिय की वृत्ति से भी ब्राह्मण को जीविका चलाना कठिन हो, तो खेती, गोरक्षा, वाणिज्य आदि वैश्य की जीविका से निर्वाह करे। यदि ब्राह्मण या क्षत्रिय वैश्य की वृत्ति से जीविका चलाना चाहता है, तो उसे हिंसायुक्त और पराधीन कृषि-कार्य को प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिए। कुछ लोग कृषि की प्रशंसा करते हैं, किन्तु सज्जनों ने उसे निन्दित माना है, क्योंकि लोहे के मुख वाला हल भूमि और भूमि में रहने वाले जीवों को नष्ट कर देता है।

ब्राह्मण और क्षत्रिय यदि अपनी वृत्ति को छोड़ने को विवश हों, अपनी धर्मनिष्ठा को बचा पाने में असमर्थ हों, तो आगे कही निषिद्ध वस्तुओं को छोड़

कर और वैश्य के बेचने योग्य धन बढ़ाने वाली वस्तुओं को बेच कर अपनी जीविका चलावें। उन्हें सभी प्रकार के रस, तिल, पक्वान्न, पाषाण, लवण और मनुष्यों के उपकारी पशुओं के विक्रय का कार्य नहीं करना चाहिए। रंगे हुए सभी तरह के वस्त्रों, सण, रेशम तथा ऊन के सभी तरह के रंगे या बिना रंगे कपड़ों का तथा फल, फूल और औषध का विक्रय भी नहीं करना चाहिए। जल, शस्त्र, विष, मांस, सोमरस, सब तरह की सुगन्धित वस्तुएं, दूध, मोम, दही, घृत, तेल, शहद, गुड़ और कुश का भी विक्रय न करे। सभी तरह के जंगली जानवर, डाढ़ वाले जानवर, पक्षी, मद्य, नील, लाख और एक खुरवाले पशुओं को भी न बेचे। किसान बना ब्राह्मण या क्षत्रिय अपनी खेती में स्वयं तिलों को यदि उपजाता है, तो उसे धर्म-कार्य के लिए तुरन्त बेच देने में कोई दोष नहीं लगेगा। भोजन, उबटन और दान के सिवाय यदि कोई इन तिलों का अन्य रीति से उपयोग करता है, तो वह कीड़ा बन कर अपने पितरों सहित श्वविष्टा में डूब जाता है। मांस, नमक और लाख बेचने वाला ब्राह्मण तुरन्त पतित हो जाता है और तीन दिन तक दूध बेचने वाला ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। इच्छापूर्वक निषिद्ध वस्तुओं का व्यापार करने वाला ब्राह्मण सात रात्रि के पश्चात् वैश्य बन जाता है।

गुड़ आदि रसों से दूसरी तरह के घृत आदि रस बदले जा सकते हैं। परन्तु तिल को अन्य रसों के साथ नहीं बदला जाता। पक्वान्न के बदले कच्चा अन्न बदला जा सकता है और तिल समान तोल के धान्य से बदले जा सकते हैं।

आपत्ति में पड़ा क्षत्रिय इन सब निषिद्ध वृत्तियों से अपनी जीविका चला सकता है, परन्तु ब्राह्मण की वृत्ति से जीविका चलाने की इच्छा कभी न करे। यदि कनिष्ठ जाति का व्यक्ति लोभवश ज्येष्ठ जाति की वृत्ति का अवलम्बन करके अपनी जीविका चलाता है, तो राजा उसे निर्धन बना कर तुरन्त अपने देश से निकाल दे। अपना धर्म निकृष्ट होने पर भी अच्छा है और पराया धर्म उत्तम हो, तो भी बुरा है, क्योंकि पराये धर्म में जीवित मनुष्य तुरन्त अपनी जाति से पतित हो जाता है।

वैश्य निज धर्म से जीविका चलाने में असमर्थ हो, तो उसे निषिद्ध कर्मों को छोड़ कर शूद्र की वृत्ति से अपनी जीविका चलानी चाहिए। समर्थ होने पर उसे शूद्र की वृत्ति स्वीकार नहीं करनी चाहिए। जो शूद्र द्विजातियों की सेवा करने में असमर्थ हो और जिसके स्त्री-पुत्र क्षुधा से पीडित हों, वह कारीगरी से जीविका चलावे। जिन कार्यों के करने से द्विजों की सेवा होती है, ऐसे अनेक प्रकार के शिल्प और कारीगरी के काम शूद्र करे।

इस प्रकार चारों वर्णों की जीविका का विधान कर मनु ने ब्राह्मण के लिए आपद्धर्म के रूप में कुछ विधान बताये हैं (श्लो० १०१-११३)।

आगे दान आदि की चर्चा करते हुए बताया गया है कि जोती हुई भूमि की अपेक्षा बिना जोती भूमि, गौ, बकरी, भेड़, सुवर्ण, धान्य और अन्न (सरसों आदि)—इनमें से पहले-पहले का प्रतिग्रह अदूषित है, अर्थात् पहले का दान न मिले, तो दूसरा ले। दाय (वंश का धन), लाभ (मित्र आदि से मिला धन), क्रय (खरीद), जय (विजय से मिला), प्रयोग (ब्याज) और कर्मयोग (खेती, वाणिज्य आदि) और सत्प्रतिग्रह—ये सात धन की प्राप्ति के उपाय धर्म के अनुकूल होते हैं। विद्या, शिल्पकार्य, वेतन, सेवा, गोरक्षा, वाणिज्य, खेती, संतोष, भिक्षा और ब्याज के लिए धन लगाना—ये दस जीविका के साधन हैं। ब्राह्मण और क्षत्रिय को अन्तिम साधन ब्याज का उपयोग कभी नहीं करना चाहिए। धर्मकार्य के लिए थोड़े ब्याज पर अभावग्रस्त व्यक्ति को ऋण दिया जा सकता है।

क्षत्रिय (राजा) सामर्थ्य के अनुसार प्रजा की रक्षा करता हुआ आपत्काल में आठवें भाग के स्थान पर चौथा हिस्सा भी कर लेता है, तो वह पाप का भागी नहीं बनता। विजय प्राप्त करना ही राजा का धर्म है। राजा युद्ध से कभी भी पीछे न हटे और शस्त्रों से वैश्यों की रक्षा करता हुआ धर्मपूर्वक कर ले। आपत्काल में राजा को वैश्यों से धान्य का आठवाँ भाग और सुवर्ण आदि का २०वाँ भाग कर लेना चाहिए। शूद्र कारीगर, शिल्पी आदि से अपना कार्य करा लेना चाहिए।

ब्राह्मण की सेवा से यदि शूद्र की जीविका न चले, तो वह क्षत्रिय की सेवा करे। वह भी न मिले, तो वह धनी वैश्य की सेवा कर जिये। स्वर्ग के लिए या स्वर्ग के साथ जीविका के लिए शूद्र ब्राह्मण की सेवा करे। इससे वह कृतार्थ होता है। शूद्रों के लिए ब्राह्मण की सेवा श्रेष्ठ कार्य है। इसके सिवा वह जो कुछ करता है, सब निष्फल जाता है। ब्राह्मणों को चाहिए कि वे शूद्र की सेवा की योग्यता, कार्य में उत्साह और उनके परिवार की आवश्यकता को देखकर उसकी जीविका नियत कर दें। शूद्र को जूठा अन्न, पुराना वस्त्र, निकृष्ट धान्य और घर की अनुपयोगी सामग्री दे देनी चाहिए। लशुन आदि के खाने से शूद्र को पाप नहीं लगता। वह उपनयन संस्कार के योग्य नहीं है। अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मों का अधिकारी न होने पर भी वह पाक-यज्ञ कर सकता है। धर्मज्ञ और धर्म के अभिलाषी तथा सत्पुरुषों जैसे आचरण वाले शूद्र पांच महायज्ञों का मन्त्ररहित अनुष्ठान कर यश के भागी होते हैं। पराई निन्दा न करने वाला शूद्र जिस प्रकार द्विजातियों की सेवा करता है, उसी भाँति अनिन्दित होकर इस लोक और पर लोक में सुख पाता है। समर्थ होने पर भी शूद्र को धन संचय नहीं करना चाहिए, क्योंकि शूद्र धन पाकर ब्राह्मणों को ही पीड़ा पहुँचाता है।

इस तरह से यहाँ चारों वर्णों के सामान्य धर्मों के अतिरिक्त आपत्काल के धर्मों को भी बताया गया है। इनका भली प्रकार से आचरण कर लोग परम गति को पाते हैं। चारों वर्णों की यही सम्पूर्ण धर्मविधि है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि क्षमा, दान, दया, त्याग, अनसूया, गुरु और शास्त्र का अनुगमन, सत्य, ईश्वर और परलोक के अस्तित्व में विश्वास, इन्द्रिय-निग्रह एवं ब्राह्मणों का संमान—ये चारों वर्णों के सामान्य धर्म हैं। क्रियावान् ब्राह्मण को प्राजापत्य स्थान, संग्राम में पलायित न होने वाले क्षत्रिय को ऐन्द्र स्थान, अपने धर्म का अनुसरण करने वाले वैश्य को मारुत स्थान तथा सेवा करने वाले शूद्र को गान्धर्व स्थान की प्राप्ति होती है। भारतीय शास्त्रों में चारों वर्णों के लिए निर्धारित धर्मों की इस विवेचना के बाद अब आश्रम-व्यवस्था पर प्रकाश डाला जा रहा है।

आश्रम-व्यवस्था

चार वर्णों के समान भारतीय शास्त्रों में चार आश्रमों की भी व्यवस्था है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम हैं। भिक्षा मांगना, गुरु-सेवा, स्वाध्याय एवं सन्ध्याकर्म ब्रह्मचारी का धर्म है। अतिथिसेवा, यज्ञ, दान एवं देवपूजन गृहस्थ का धर्म है। होम, फल-मूल का आहार, तप तथा न्यायानुसार सम्पत्ति का वितरण वानप्रस्थ का धर्म है। भिक्षा में प्राप्त भोजन, मौन व्रत और सम्यक् ज्ञान संन्यासी का धर्म है। अन्य तीन आश्रमों से गृहस्थाश्रम को श्रेष्ठ माना गया है। वेदों की दृष्टि से तीनों आश्रमों का इसमें समावेश होता है। इस कारण इसे ही धर्म का मुख्य साधन माना गया है। मनुस्मृति (३.७७-८०; ६.८७-९०) में गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता अधिक पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध की गई है। वहाँ बताया गया है कि गृहस्थ ही बाकी तीनों आश्रमों का भरण-पोषण करता है। ये तीनों गृहस्थ के ही आश्रय में जीते हैं। आश्रम शब्द 'श्रमु' धातु से बना है। ''आ समन्तात् श्राम्यन्ति यस्मिन्, इति आश्रमः'' यह इसकी व्युत्पत्ति है, अर्थात् एक ऐसा जीवन-स्तर जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्यों का कठोरता से पालन करते हैं।

शास्त्रों में आश्रमों के दो-दो प्रकार बताये गये हैं। विधिपूर्वक वेदों का अध्ययन कर जो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है, उसे उपकुर्वाणक ब्रह्मचारी कहते हैं। जो मृत्यु-पर्यन्त गुरु के आश्रम में रहता है, उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं। उदासीन व साधक के भेद से गृहस्थ भी दो प्रकार का है। कुटुम्ब के भरण-पोषण में लगा गृहस्थ साधक एवं देव, ऋषि और पितृ ऋण के चुकाने के बाद

भार्या, धन आदि का त्याग कर एकाकी फिरने वाला उदासीन गृहस्थ कहलाता है। वानप्रस्थ भी दो प्रकार का है—वन में तपस्या, देवपूजन, होम तथा स्वाध्याय में निरत वानप्रस्थ को तापस कहा जाता है और तपस्या से अत्यन्त कृश एवं निरन्तर ध्यान में लगे रहने वाले को सांन्यासिक जानना चाहिए। मुक्तिपथ पर आरूढ़ जितेन्द्रिय ज्ञानशील संन्यासी पारमेष्ठिक कहलाता है और नित्य आत्मा में रमण करने वाले ज्ञान-सम्पन्न भिक्षु (संन्यासी) को योगी कहते हैं।

कूर्मपुराण (१.२.९८) में भी वैष्णव, ब्राह्म और शैव नामक तीन आश्रमों (संप्रदायों) की चर्चा मिलती है। नियमपूर्वक उस-उस आश्रम का लिंग (चिह्न) धारण कर भक्तजनों के प्रति प्रेम रखते हुए ब्रह्मविद्या में तत्पर व्यक्ति को अपने-अपने इष्टदेवता का ध्यान-पूजन करना चाहिए। वर्णाश्रम धर्मों का पालन करने वाले व्यक्ति को यज्ञ, तप, जप तथा दान करना चाहिए। एकाग्रतापूर्वक ईश्वर का ध्यान करने वाले व्यक्ति को अचल स्थान प्राप्त होता है। इसी पद्धति से हम प्राचीन तथा आधुनिक अन्य सम्प्रदायों की भी व्याख्या कर सकते हैं।

समयानुसार चारों आश्रमों में परिवर्तन होते रहते हैं। ज्ञान-वैराग्य युक्त व्यक्ति परम गति को चाहता है, तो वह ब्रह्मचर्य से ही संन्यासाश्रम में चला जाता है। अन्यथा विवाह कर यज्ञों का अनुष्ठान करते हुए पितृऋण से मुक्त होने के बाद विरक्त हो संन्यास लेता है। गृहस्थ को यज्ञों के अनुष्ठान और पुत्र की प्राप्ति के बिना गृहस्थाश्रम नहीं त्यागना चाहिए, किन्तु वैराग्य के आवेग में द्विज यज्ञ किये बिना भी संन्यास ग्रहण कर सकता है।

ऊर्ध्वरेता ८८ हजार ऋषियों का ही स्थान गुरुकुल में निवास करने वाले ब्रह्मचारी का होता है। सप्तर्षियों का स्थान वानप्रस्थ का और चित्तविजयी संन्यासी का स्थान हिरण्यगर्भ लोक एवं योगियों का अविनाशी व्योम श्रेष्ठ स्थान है। इसी को परम गति कहा जाता है। गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता को देखते हुए जो द्विज इसी आश्रम में श्रद्धा से निवास करता है, वह अमृतत्व (मोक्ष) को प्राप्त करता है। न्याय से धन प्राप्त करने वाला, ब्रह्मविद्यापरायण, धर्मपालक, शान्त, अपनी वृत्ति से जीविका चलाने वाला गृहस्थ ब्रह्मभाव की प्राप्ति में समर्थ होता है। आसक्तिरहित, निष्काम व्यक्ति प्रसन्न मन से कर्म करते हुए भी मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। निष्काम भाव से कर्म करने पर उसके सारे पाप क्षीण हो जाते हैं, वह ब्रह्मज्ञानी हो जाता है। कर्मयुक्त ज्ञान से यथार्थ की सिद्धि होती है। अत एव विभिन्न आश्रमों में रहते हुए भी ईश्वर की तुष्टि के लिए कर्म करने से नित्यानन्द-स्वरूप निराभास महेश्वर, परमात्मा परमब्रह्म का साक्षात्कार कर उसमें लीन हो शाश्वत पद को प्राप्त करता है।

आश्रम-धर्म का यही संक्षिप्त स्वरूप है। इसका विस्तार व्यासगीता में किया गया है, जो कूर्मपुराण के उपरि विभाग (१२ से ३० अध्याय तक) में स्थित है। हम आगे उसी के अनुसार चारों आश्रमों का तथा उनके कर्तव्यों का निरूपण करेंगे।

आश्रमों के विषय में मनु का सिद्धान्त इस प्रकार है—मानव-जीवन एक सौ वर्ष का होता है (शतायुर्वै पुरुषः)। सभी यह आयु नहीं पाते, किन्तु यह वह सीमा है, जहाँ तक जीने की कोई आशा कर सकता है। इस आयु को हम चार भागों में बाँटते हैं। मनु (४.१) के अनुसार मनुष्य के जीवन का प्रथम भाग ब्रह्मचर्य के लिए है, जिसमें व्यक्ति गुरुगृह में रहकर विद्याध्ययन करता है। दूसरे भाग में वह विवाह करके गृहस्थ हो जाता है और सन्तानोत्पत्ति के द्वारा अपने पूर्वजों के ऋण से तथा यज्ञ आदि करके देवों के ऋण से मुक्ति पाता है (५.१६९)। जब व्यक्ति अपने सिर पर उजलें बाल देखता है तथा शरीर पर झुर्रिया देखता है, तब वह वानप्रस्थ (६.१.३) हो जाता है। इस प्रकार वन में जीवन का तृतीयांश बिता कर शेष भाग को संन्यासी के रूप में व्यतीत करता है। ऐसे ही नियम अन्यत्र भी देखे जा सकते हैं।

चारों आश्रमों के क्रम के विषय में तीन पक्ष देखने को मिलते हैं—समुच्चय, विकल्प और बाध। प्रथम पक्ष के अनुसार प्रत्येक आश्रम का अनुसरण अनुक्रम से होता है, अर्थात् सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य, तब गृहस्थ और गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ और अन्त में संन्यास। इस पक्ष के अनुसार कोई ब्रह्मचर्य के उपरान्त तुरन्त संन्यास नहीं ग्रहण कर सकता। मनु (४.१, ६.१, ३३-३७, ८७-८८) इसके प्रबल समर्थक हैं। इस पक्ष वाले विवाह एवं संभोग को अपवित्र एवं तप के लिए विघ्न नहीं मानते। धर्मशास्त्रकारों में अधिकांश गृहस्थाश्रम को बहुत गौरव देते हैं और वानप्रस्थ एवं संन्यास को विशेष महत्त्व नहीं देते। कुछ ने तो वानप्रस्थ एवं संन्यास को कलियुग के लिए वर्जित माना है।

दूसरे पक्ष वाले ब्रह्मचर्य के उपरान्त विकल्प की बात करते हैं। उनके मत से अध्ययन के उपरान्त या गृहस्थाश्रम के उपरान्त परिव्राजक हुआ जा सकता है। जाबालोपनिषद् इसका पक्षपाती है। अन्यत्र भी इस पक्ष को मान्यता मिली है।

बाध नामक तीसरे पक्ष का समर्थन गौतम एवं बौधायन जैसे प्राचीन धर्म-सूत्रकारों ने किया है। इस मत में केवल एक ही आश्रम वास्तविक माना जाता है और वह है गृहस्थाश्रम। अन्य आश्रम इससे अपेक्षाकृत कम महत्त्व के हैं। मनु, वसिष्ठ, दक्ष, विष्णु आदि गृहस्थाश्रम को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। महाभारत में भी स्थान-स्थान पर गृहस्थाश्रम की गरिमा को देखा जा सकता है। याज्ञवल्क्य

(३.५६) की टीका मिताक्षरा ने इन तीनों सिद्धान्तों का विवेचन किया है और कहा है कि इनमें से प्रत्येक मत को वैदिक समर्थन प्राप्त है तथा इनमें से कोई भी मत व्यवहार में लाया जा सकता है।

आश्रमों के इस सामान्य विवेचन के साथ अब हम चारों आश्रमों का विशद स्वरूप और उनके कर्तव्यों का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं।

१. ब्रह्मचर्याश्रम

हमारा समस्त शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास आश्रम-धर्म पर आधारित है। इसलिए वैदिक मनीषियों ने मनुष्य की चार अवस्थाएँ निश्चित की हैं। इन चारों अवस्थाओं को आयु के विकास क्रम के साथ चार आश्रमों में बाँट दिया है। इनमें प्रथम है—ब्रह्मचर्याश्रम। गुरुगृह में रहते हुए भिक्षा प्राप्त कर ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हुए विद्याध्ययन करना और गुरु की सेवा करना ब्रह्मचारी का प्रधान कर्तव्य है। यह एक महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है।

स्वस्थ रहने के लिए व्यक्ति को आहार, ब्रह्मचर्य, निद्रा और व्यायाम की आवश्यकता रहती है। ये चारों स्वास्थ्य के चार पाद कहे जाते हैं। ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य का प्रमुख अंग है। समस्त शारीरिक चेतनास्रोत का मुख्य आधार ब्रह्मचर्य है। जैसे मजबूत मकान के लिए उसकी नींव का पुख्ता होना जरूरी है, वैसे ही एक स्वस्थ शरीर के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य से हीन व्यक्ति निर्बल, निस्तेज, उत्साहहीन होता है। ऐसे व्यक्ति से समाज अशक्त मृतप्राय बन जाता है। ब्रह्मचर्य से सम्पन्न व्यक्ति स्वस्थ, तेजस्वी, उत्साही एवं प्रतिभासम्पन्न होता है। ऐसा व्यक्ति समाज को दृढ़ बनाने में योगदान करता है। ब्रह्मचर्य के लिए इन्द्रिय-निग्रह एवं विकारों से निवृत्ति आवश्यक है। संयम को आधार बनाकर जीवन-यापन करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य की शक्ति मनुष्य में दिव्य चारित्रिक चेतना को जन्म देती है। भारत में अतुलित बलशाली सन्त-महात्माओं और वीर महापुरुषों का प्रादुर्भाव ब्रह्मचर्य के कारण ही हुआ था।

आयु, तेज, बल, बुद्धि, वीर्य, पुण्य, कीर्ति और परमेश्वर में प्रीति ये सब गुण ब्रह्मचर्य का पालन करने से प्राप्त होते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन करने से मनुष्य में दिव्य शक्ति का संचार होता है। इसकी रक्षा के लिए ब्रह्मचारी को ईश्वर-परायण, सात्त्विक विचार और महान् ध्येय से सम्पन्न सादगी-भरा कार्य-व्यस्त जीवन बिताना चाहिए।

कूर्मपुराण के उपरि विभाग के १२-१४ अध्यायों में ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक पालनीय धर्मों का वर्णन किया गया है। इन्हें कर्मयोग की संज्ञा देकर

बताया गया है कि इनके पालन से ब्राह्मणों को सनातन मोक्षपद प्राप्त होता है। पूर्वकाल में प्रजापति मनु ने समस्त पापों को दूर करने वाले ब्रह्मा के द्वारा उपदिष्ट वेदविहित कर्मयोग का वर्णन किया था। यही वहाँ १३वें अध्याय में इस प्रकार बताया गया है—गर्भ के आठवें वर्ष में अपने गृह्यसूत्रों के विधान के अनुसार उपनयन संस्कार से युक्त ब्रह्मचारी दण्ड, मेखला, यज्ञोपवीत धारण कर भिक्षा से प्राप्त आहार को ग्रहण कर गुरु की सेवा में निरत हो वेदाध्ययन करे।

विभिन्न वर्णों को कैसा उपवीत धारण करना? इसका उल्लेख करते हुए यहाँ बताया है कि ब्राह्मण को मूंज की तिहरी मेखला या कुश की एक या तीन ग्रन्थि से युक्त मेखला, द्विज को केशान्त तक के परिमाण का बेल, पलाश या अन्य यज्ञीय वृक्ष का छिद्ररहित दंड धारण करना चाहिए। बायें कन्धे पर स्थापित यज्ञसूत्र को उपवीती एवं कंठ में लटके हुए को निवीती कहा है। दाहिने कन्धे पर रखे यज्ञसूत्र को प्राचीनावीती कहते हैं। इसका प्रयोग पितृकर्म में किया जाता है।

संध्या के महत्त्व को बताते हुए उसी अध्याय में बताया गया है कि द्विज को अपने कल्याण के लिए एकाग्रतापूर्वक प्रातः-सायं संध्या करनी चाहिए। काम, लोभ, भय अथवा मोहवश इसका परित्याग करने से द्विज पतित हो जाता है। प्रसन्न मन से हवन, पूजन एवं तर्पण करने से ब्रह्मचारी सद्गति को प्राप्त करता है।

आगे गुरुजनों के क्रम को बताते हुए कहा गया है कि उपाध्याय माता-पिता तथा उनसे सम्बद्ध श्रेष्ठ वर्ग के व्यक्ति गुरु के समान ही पूजनीय हैं, अतः मनुष्य को मन, वाणी और कर्म के द्वारा इनका अनुसरण करना चाहिए। इनके प्रति द्वेषपूर्ण व्यवहार करने पर द्विज पतित हो जाता है। विद्या-धन देने वाले गुरु और जन्म देने वाले माता-पिता सर्वाधिक श्रेष्ठ हैं। अपनी अपेक्षा अल्प आयु वाले व्यक्ति और धर्मज्ञ पुरुष के साथ आदर से संभाषण ब्रह्मचारी का धर्म है। विद्या, कर्म, वय, बन्धु एवं धन ये पाँच संमान के स्थान हैं। इनमें उत्तर की अपेक्षा पूर्व की महत्ता होती है। कूर्मपुराण में अभिवादन के विषय में बताया गया है कि नब्बे वर्ष से ऊपर की वय में शूद्र भी माननीय हो जाता है।

ब्रह्मचारी के भोजनपर्यन्त कर्तव्यों का निरूपण करने के बाद वहाँ १३वें अध्याय में आचमन आदि की विधियों का निरूपण करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण हृदय तक, क्षत्रिय कण्ठ एवं वैश्य मुख में प्रविष्ट जल से शुद्ध हो जाता है। द्विज नित्य ब्राह्म तीर्थ से आचमन करे। काय तीर्थ, प्राजापत्य या दैव तीर्थ से भी आचमन किया जा सकता है, किन्तु पितृ तीर्थ से आचमन न करे। इन चतुर्विध तीर्थों की चर्चा पहले आ चुकी है। आचमन के उपरान्त मुड़े हुए अंगूठे

के मूल से मुँह तथा अंगुष्ठ और अनामिका से दोनों नेत्रों का स्पर्श तथा तर्जनी-अंगुष्ठ को मिलाकर नासिका के दोनों पुटों का स्पर्श करे। इसी तरह से कनिष्ठा एवं अंगुष्ठ को मिलाकर कानों का तथा सभी अंगुलियों को मिलाकर हथेली से हृदय एवं सिर का स्पर्श करे। आज भी हमें इस तरह का आचरण करने वाले धार्मिक व्यक्ति मिल जायेंगे। ब्रह्मचारी के प्रकरण में कही जाने वाली भी यह क्रिया भोजन के उपरान्त सभी के लिए करणीय है। इससे सारी इन्द्रियाँ स्वास्थ्य-लाभ करती हैं।

इसी अध्याय में ब्रह्मचारी के लिए शौच और आचार का वर्णन करने के बाद १४वें अध्याय में अध्ययन की विधि का निरूपण करते हुए कहा गया है कि दंड आदि से युक्त, नित्य सदाचार और संयम से भरा जीवन बिताने वाला ब्रह्मचारी गुरु के आदेशों का पालन करे। ब्रह्मचारी को जितेन्द्रिय, क्रोध-शून्य तथा हितकारी मधुर वाणी का प्रयोग करना चाहिए।

ब्रह्मचारी गन्ध, माल्य, मदिरा, प्राणियों की हिंसा, काम, क्रोध, लोभ, भय और निद्रा का त्याग एवं पुष्प, गोमय (गोबर), मिट्टी एवं कुश का संग्रह नित्य करे। वैदिक, लौकिक अथवा आध्यात्मिक ज्ञान को देने वाले गुरु का कभी त्याग न करे, न हीं उनसे द्वेष करे। विद्यादाता के प्रति आदर प्रकट करना सर्वदा उचित है। यहाँ इतना अवश्य कहा गया है कि यदि गुरु अहंकारी, कुमार्गगामी हो, तो उसका त्याग किया जा सकता है। ब्रह्मचारी सदा वेद, धर्मशास्त्र, पुराण तथा वेदांगों का अध्ययन करे। ब्रह्मचारी के साथ ही यहाँ आचार्य (गुरु) को भी कुछ निर्देश दिये गये हैं कि उसे—१. आचार्यपुत्र, २. सेवा-शुश्रूषा करने वाले, ३. ज्ञान प्रदान करने वाले, ४. धार्मिक, ५. पवित्र, ६. शक्तिसम्पन्न, ७ अन्नदाता, ८. धनी, ९. साधु एवं १०. आत्मीय पुत्र—इन दस प्रकार के लोगों को धर्मानुसार पढ़ाना चाहिये। इसी तरह से १. कृतज्ञ, २. अद्रोही, ३. मेधावी, ४. कल्याणकारी, ५. विश्वस्त एवं ६. प्रिय—इन छः प्रकार के व्यक्तियों को भी वह विधिवत् पढ़ावे।

गुरु के समीप किस तरह बैठ कर विद्याध्ययन करे, इसका वर्णन करते हुए यहाँ बताया गया है कि ब्रह्मचारी संयमपूर्वक आचमन कर, उत्तराभिमुख हो गुरु-चरणों का वन्दन कर अध्ययन करे। वेद समस्त प्राणियों का शाश्वत नेत्र है। जो इसका अध्ययन नहीं करता, वह ब्राह्मणत्व से च्युत हो जाता है। ऋग्वेद का अध्ययन करने वाला क्षीर की आहुति से, यजुर्वेद का दधि द्वारा, सामवेदाध्यायी घृत तथा अथर्ववेद का नित्य अध्ययन करने वाला मधु की आहुति से देवताओं को तृप्त करता है।

ब्रह्मचारी नित्य गायत्री का जप करे। चारों वेदों के पाठ और गायत्रीजप में कोई अन्तर नहीं है। आदि में प्रणव (ॐ) एवं तदनन्तर तीन महाव्याहृतियों (भूः-भुवः-स्वः) को लगा कर श्रद्धा एवं एकाग्र मन से गायत्री मन्त्र का जप करे। प्राचीन काल में सम्पूर्ण अमंगलों का नाश करने वाली ये तीन शाश्वत व्याहृतियाँ उत्पन्न हुई थी। ये प्रधान, पुरुष और काल का; ब्रह्मा, विष्णु और महेश का तथा सत्त्व, रज और तम का प्रतिनिधित्व करती हैं। जो ब्रह्मचारी अर्थज्ञान पूर्वक नित्य गायत्री का जप करते हैं, वे परम गति को प्राप्त करते हैं। गायत्री वेदों की माता एवं लोक को पवित्र करने वाली है। इससे श्रेष्ठ कोई धर्म नहीं है। ब्रह्मचारी को अपने-अपने गृह्यसूत्र के अनुसार वेदों का उपाकर्म करना चाहिए।

इस अध्याय में वेद आदि का नित्य अध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी के लिए त्याग-योग्य बातें बताई हैं। रात्रि में कानों में तेज वायु का प्रवाह, विद्युत् की चमक, मेघ-गर्जन होने पर अनिश्चित समय का अनध्याय रखे, सूतक के तीन दिन वेद का अध्ययन न करे। श्लेष्मातक (लिसोड़ा), शाल्मलि (सेमल), महुआ, कोविदार (कचनार) की छाया में अध्ययन न करे। इस तरह के अनध्यायों के विषय में यहाँ (श्लो० ६१-८०) विस्तार से बताया गया है। भारतीय संस्कृति में अनध्याय का महत्त्व इसी से समझा जा सकता है कि वाल्मीकिरामायण में अशोकवाटिका में रह रही सीता की उपमा प्रतिपदा के दिन अध्ययन करने वाले की विद्या के साथ दी गई है (प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता)।

१४वें अध्याय के अन्त में कहा गया है कि जो द्विज श्रुति का अध्ययन न कर अन्यत्र श्रम करता है, उस वेदबाह्य अत्यन्त मूढ व्यक्ति से द्विजातियों को संभाषण नहीं करना चाहिए। पाठमात्र से वेदाध्ययन करने वाला व्यक्ति कीचड़ में फँसी गाय के समान दुःख पाता है। जो व्यक्ति वेदों का अध्ययन कर वेदार्थ पर विचार नहीं करता, वह शूद्रतुल्य होता है। उसमें धर्मादि की पात्रता नहीं होती। निरुक्त (१.६) में भी बताया गया है कि जो व्यक्ति अर्थ को बिना जाने वेद का अध्ययन करता है, उसका जीवन मात्र बोझा ढोने वाले के समान है।

इस प्रकार व्यासगीता के आधार पर ग्रथित कूर्मपुराण के उपरि भाग के तीन अध्यायों (१२-१४ अ०) में मानव जीवन के आधारभूत ब्रह्मचर्याश्रम के कर्तव्यों का निरूपण किया है। मनुस्मृति (२.६८-२४९) में भी **कर्मयोग** के नाम से ही ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का निरूपण मिलता है। उनमें से कुछ बातों की चर्चा वर्णव्यवस्था प्रकरण में आ चुकी है। अध्ययन के आरम्भ में शिष्य के लिए यहाँ (२.७१-७२) **ब्रह्मांजलि** का विधान है। वेदाध्ययन के आरम्भ और अन्त में

व्यत्यस्त पाणि (दाहिने हाथ से दाहिना पैर और बायें हाथ से बायाँ पैर) से गुरु के चरणों का स्पर्श कर हाथ जोड़कर बैठना चाहिए। आगे जपयज्ञ की महिमा बताई गई है (२.८५-८७)। एक श्लोक (२.९४) में बताया गया है कि कामनाओं के उपभोग से वे कभी शान्त नहीं होतीं, घृत की आहुति से अग्नि के समान वे बढ़ती ही जाती हैं। ब्रह्मचारी के नियमों की चर्चा विस्तार से करते हुए आगे (२.११९-१५८) वृद्धों के संमान, अभिवादन-प्रत्यभिवादन, परस्पर की ज्येष्ठता का क्रम जैसे विषयों का उल्लेख किया गया है। इसी प्रसंग (२.१४०-१५४) में आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु का लक्षण बता कर उनकी महिमा गाई गई है। तब (२.१५९-१७२) मानवों के लिए सामान्य नियमों की तथा ब्रह्मचारी के लिए विशेष आचरणीय एवं निषिद्ध व्यवहारों की चर्चा की गई है (२.१७३-१९०)। तब (२.१९१-२०६) गुरु के साथ शिष्य के सम्बन्ध की तथा अन्य गुरुजनों के साथ किये जाने वाले व्यवहार की चर्चा कर पुनः ब्रह्मचारी के पालनीय एवं निषिद्ध नियमों का उल्लेख करते हुए माता-पिता एवं आचार्य की महिमा वर्णित है (२.२०७-२३७)। इस अध्याय के अन्तिम कुछ श्लोकों में उपधर्म निरूपित हैं।

धर्मशास्त्र के इतिहास (भा० १, पृ० २०८-२६३) में उपनयन के प्रकरण में उपर्युक्त सभी विषयों की विस्तार से चर्चा हुई है। उसकी सूचना हम संस्कारों के प्रसंग में दे चुके हैं। अब हम गृहस्थाश्रम की चर्चा करेंगे।

२. गृहस्थाश्रम

गृहस्थाश्रम के विषय में संस्कारों के प्रकरण में विवाह-संस्कार पर लिखते हुए हमने मनुस्मृति में तृतीय अध्याय की ६६ श्लोक तक की सामग्री का तथा धर्मशास्त्र के इतिहास के नवें अध्याय से १४वें अध्याय पर्यन्त वर्णित सामग्री का भी संक्षिप्त परिचय दिया है। अब यहाँ व्यासगीता (कूर्मपुराण उपरि विभाग, अध्याय १५-२६) के आधार पर गार्हस्थ्य धर्मों की चर्चा की जा रही है।

आश्रमों में गृहस्थाश्रम की द्वितीय स्थान पर गणना होती है, किन्तु यह अन्य सभी आश्रमों का आधार है। अन्य तीनों आश्रम इसी पर आश्रित हैं। इस विषय की चर्चा पहले हो चुकी है (पृ० ४३)। कूर्मपुराण के उपरि विभाग के १५वें अध्याय के नवें श्लोक से गृहस्थ के धर्मों का निरूपण किया गया है। स्नातक के कर्तव्यों के निरूपण के बाद गृहस्थ के धर्मों को बताते हुए यहाँ कहा गया है कि गृहस्थाश्रम धर्म में प्रवेश के इच्छुक स्नातक को अपने समान वर्ण, रूप और लक्षणों से सम्पन्न, योनिसम्बन्धी दोषों से रहित कन्या को पत्नी के रूप

में ग्रहण करना चाहिए। यह कन्या आवश्यक शील और शौच (पवित्रता) से सम्पन्न हो तथा मातृकुल के गोत्र में एवं अपने गोत्र में उत्पन्न न हुई हो।

गृहस्थ षष्ठी, अष्टमी, द्वादशी, चतुर्दशी एवं पंचदशी (पूर्णिमा और अमावस्या) को तथा जन्मदिन से तीन दिन तक ब्रह्मचर्य का पालन करे। गृहस्थ आवसथ्याग्नि (गृह्याग्नि) का अर्चन, होम, व्रतपालन, वेदाभ्यास और पाँच महायज्ञों का कभी त्याग न करे। यह सज्जन-मैत्री, ईश्वरोपासन, भार्या-पोषण करे। धर्म कार्य को प्रदर्शन का विषय न बनावे। उसे पापों को न छिपाते हुए प्राणियों की रक्षा में प्रवृत्त रहना चाहिए।

सदा आचार-पालन के ऊपर जोर देते हुए यहाँ बताया गया है कि गृहस्थ माता-पिता, पितामह आदि से प्रवर्तित सन्मार्ग का अनुसरण करे। उसे नित्य यज्ञोपवीती, क्रोधविजयी, सत्यवादी, गायत्री जप में निरत, नियत काल में पितृश्राद्ध, देवार्चन, तथा धर्म-अर्थ-काम स्वरूप त्रिवर्ग का साधन करते हुए दया, क्षमा, दान का आचरण करना चाहिए। क्षमा, दया, विज्ञान, सत्य, दम, शम एवं अध्यात्म में निरत होना ही ब्राह्मण का लक्षण है। मानव को तथा विशेष रूप से द्विजोत्तम को इन गुणों के विषय में प्रमाद नहीं करना चाहिए। यथाशक्ति विहित कर्मों का पालन एवं निन्दित कर्मों का त्याग करना चाहिए।

यहाँ क्षमा आदि का जो लक्षण बताया गया है, वह अन्यत्र से विलक्षण लगता है। यहाँ कहा गया है कि अन्य पुरुष के क्रोध से उत्पन्न अपनी निन्दा, अनादर, दोषारोपण, हिंसा, बन्धन एवं ताडन आदि के दोषों का सहन करना ही क्षमा है। सौहार्दवश अपने दु:ख के सदृश दूसरों के दु:ख में करुणा करना ही दया है। यथार्थ रूप में चौदह विद्याओं को (चार वेद, छ: वेदांग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण) को धारण करना ही विज्ञान है। यहाँ विज्ञान के सम्बन्ध में एक नई दृष्टि को सामने रखते हुए कहा गया है कि विद्याध्ययन कर लेने पर भी व्यक्ति यदि धर्म-सम्बन्धी कार्यों का अनुष्ठान (आचरण) नहीं करता, तो उस अध्ययन को अर्थ-ज्ञान के अभाव में विज्ञान नहीं कहा जा सकता।

सत्य को परम तप बताते हुए यहाँ कहा गया है कि तपस्या के द्वारा शरीर की विश्रान्ति, अर्थात् शरीर के ग्राम्य धर्म, झूठ, छल-कपट आदि पर संयम ही दम है। शम बुद्धि की विमलता से प्राप्त होता है। अध्यात्मज्ञान से उत्कृष्ट देव महादेव के यथार्थ स्वरूप की प्रतीति होती है।

इसी प्रकार गृहस्थ के लिए धर्म के आयतन स्वरूप शरीर की रक्षा, द्विजों के लिए नित्य कर्म का अनुष्ठान, धर्मपालन, द्रोह आदि का अभाव, वेदों और देवताओं की निन्दा एवं इनके निन्दकों के परित्याग की बात कह कर यह अध्याय समाप्त होता है।

गृहस्थाश्रम के धर्मों का निरूपण करते हुए यहाँ आगे के अध्यायों में व्यासगीता में वर्णित गृहस्थ के पालनीय आवश्यक सदाचार, भक्ष्याभक्ष्य-निर्णय, आह्निक-कृत्य, भोजन के नियम, श्राद्धविधान, आशौच, अग्निहोत्र, जीविका (वृत्ति), दानधर्म जैसे विषयों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। मनुस्मृति के गृहस्थाश्रम से सम्बद्ध ३-५ अध्यायों में भी इनकी चर्चा है। इन विषयों की क्रमशः यहाँ चर्चा की जा रही है।

सदाचार

सदाचार मानवजीवन का एक बहुमूल्य धन है, जिससे उसका अस्तित्व है। सदाचार का अर्थ है—अच्छा आचरण। व्यक्ति को काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, लोभ और मोह का त्याग कर धर्म का आचरण करते हुए जीवन व्यतीत करना चाहिए। शास्त्रों ने सभी पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए विवेकी, नीतियुक्त, सदाचारी मनुष्य को अधिकारी माना है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ कहलाते हैं। इनकी प्राप्ति के लिए किया गया प्रयत्न ही साधना या तप कहलाता है। व्यक्ति जिनकी कामना करता है, जिनको प्राप्त करने से उसका जीवन परिपूर्ण स्थिति को प्राप्त होता है, जिनके बिना जीवन अभाव का भण्डार दिखता है, उनकी प्राप्ति का प्रयत्न ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ प्रकरण में हम इस पर विचार करेंगे।

जब व्यक्ति के हृदय में विद्यमान सभी प्रकार की कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं, तब मनुष्य परमात्मा को प्राप्त करता है। सदाचारी व्यक्ति धर्माचरण करते हुए आत्मज्ञान द्वारा मोक्ष को प्राप्त करता है। सदाचार के लिए व्यक्ति को सर्वप्रथम तृष्णा का त्याग करना चाहिए। जो प्राप्त है, उसी में सन्तुष्ट रहना चाहिए। असन्तोष, तृप्ति का अनुभव न करना और विषयभोग की इच्छा ही लोभ है। तृष्णा और लोभ व्यक्ति को नरक में ले जाते हैं और दुःख का भागी बनने को प्रेरित करते हैं। व्यक्ति धन से कभी तृप्त नहीं होता, ''नहि वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'' यह श्रुतिवचन प्रसिद्ध है। धन का मोह उसे अज्ञानी, प्रमादी और मूढ बना देता है। वह सदाचार की ओर प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि तृष्णा उसे बाँधे रहती है।

इसी प्रकार कर्म, मन और वाणी से किसी भी प्राणी का अनिष्ट न करना, प्राणी मात्र के प्रति दया और दान करना ही शील है। असूया का अभाव, मृदु वाणी, परोपकार, शरणागत की रक्षा तथा शान्ति सदाचार के लिए अत्यावश्यक हैं। दया, दान, क्षमा, सेवा, उदारता, संयम, विनम्रता, प्राणी मात्र के प्रति स्नेह, विनय—ये सदाचार के मुख्य अंग हैं। जिस प्रकार सूर्य का उदय होने से गहन

कालिमा तिरोहित हो जाती है और धीरे-धीरे सूर्य का तेजस्वी प्रकाश दिग्दिगन्त में व्याप्त हो सारे संसार को एक नई चेतना से भर देता है, उसी प्रकार सदाचार का सेवन, अर्थात् आचरण करने वाला व्यक्ति अपने पुण्य कर्मों से, धर्माचरण से जगत् में विशिष्ट सामाजिक प्रणालियों का प्रचलन तथा दुराचार की कालिमा को दूर करने का पुरुषार्थ निरन्तर करता रहता है।

इस प्रकार सदाचार का आचरण करने वाला समाज अपने नीतियुक्त आचरण के द्वारा एक नई आभा और तेजस्विता को ला देता है, जिससे अविद्या के, कुरीतियों के संस्कार नष्ट हो जाते हैं, समाज में एक निर्मल आभा का प्रकाश फूट निकलता है और विमल धर्म का कमल खिल उठता है। उसकी सौरभ सारे समाज को सुरभित कर देती है। सदाचार के इसी पहलू को कूर्मपुराण के १६वें अध्याय में उजागर किया गया है।

वहाँ बताया गया है कि मानव को प्राणियों की हिंसा, असत्य, किसी का अहित या अप्रिय करने से बचना चाहिए। किसी की भी वस्तु का, चाहे वह शाक, मिट्टी या जल ही हो, अपहरण नहीं करना चाहिए। अन्यथा वह नरक का भागी बनता है। राजा, शूद्र या पतित व्यक्ति के दान का अस्वीकार, असमर्थ होने पर भी याचना-वृत्ति का और निन्दित आचरण का त्याग सदाचारी के लिए सदा आचरणीय है। धर्म का बहाना बनाकर किसी व्रत का अनुष्ठान उचित नहीं है। व्रत के बहाने से जो व्यक्ति स्त्री-शूद्र आदि की वंचना करता है, वह इहलोक और परलोक में निन्दित होता है। वर्णाश्रम के चिह्न यज्ञोपवीत, दण्ड आदि का अनधिकारी व्यक्ति यदि इनका दुरुपयोग करता है, तो वह पापी कहलाता है।

वहाँ देवताओं से द्रोह को बड़ा दोष बताया गया है। देवद्रोह से भी अधिक घृणित गुरु का द्रोह है और उससे भी अधिक दोषपूर्ण ज्ञान की निन्दा और नास्तिकता को बता कर इन द्रोहों के त्याग की बात करते हुए कहा गया है कि क्रिया के लोप, वेद का अध्ययन न करना और ब्राह्मण के अनादर से व्यक्ति पतित हो जाता है। असत्य भाषण, परस्त्रीगमन, अभक्ष्य-भक्षण, श्रुतिविरुद्ध धर्माचरण, अश्रोत्रिय आचारहीन द्विज और शूद्र को दान देने से कुल का नाश हो जाता है। वहाँ बताया गया है कि द्विज को हिमालय और विन्ध्यपर्वत एवं पूर्व-पश्चिम दिशाओं के समुद्र तटवर्ती प्रदेश को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहना चाहिए। स्वभावत: जहाँ कृष्णमृग विचरण करते हैं अथवा जहाँ पवित्र नदियाँ हैं, वहाँ द्विज निवास करे। इसी अभिप्राय के वचन मनुस्मृति (२.२१-२४) में भी उपलब्ध हैं।

सदाचार के प्रसंग में ही चाण्डाल, पतित एवं नीच व्यक्ति के साथ एक शय्या, आसन एवं पंक्ति में भोजन, विवाह आदि सम्बन्ध, अध्यापन, याजन आदि

११ सांकर्य दोष गिनाये गये हैं। वहीं यह भी कहा गया है कि अग्नि, भस्म, जल-सेचन, द्वार, स्तंभ और मार्ग—इन छ: पदार्थों से पंक्ति का भेद हो जाता है। आगे बताया गया है कि मनुष्य को निष्प्रयोजन विवाद और चुगलखोरी नहीं करनी चाहिए। खेत में चरती गाय की अनदेखी करना चाहिए। सूतक-स्पृष्ट व्यक्ति का स्पर्श न करने, ब्राह्मण और गुरु को दी जाती चीज को न रोकने, अपनी प्रशंसा और परनिन्दा को न करने के साथ बताया गया है कि गुरु, देवता और इतिहास-पुराण से युक्त वेदों के निन्दक को रौरव नरक में जाना पड़ता है। किसी की गुप्त बात को जानने की वृत्ति का त्याग, स्वजनों के साथ विवाद न करना, पाप-युक्त को पापी न कहना, निष्पाप व्यक्ति पर मिथ्या दोषारोपण न करना सदाचार का अंग है।

व्यक्ति क्रोध, लोभ, दंभ, असूया, शोक आदि का त्याग करे। पुत्र और शिष्य को ताड़न द्वारा भी शिक्षा देनी चाहिए। हीन तथा उग्र प्रवृत्तियों का तथा दीनता का त्याग करे। विशिष्ट व्यक्ति का निरादर, नख से भूमिलेखन, पैर से आसन को खींचना जैसी हरकतों से व्यक्ति को दूर रहना चाहिए। नख द्वारा किसी वस्तु को काटना, छेदना या फोड़ना गलत है। किसी पदार्थ को गोद में रख कर खाना, नग्न अवस्था में चलना, पढ़ना या सिर का स्पर्श, दाँतों या नखों से रोमों को तोड़ना, सोये व्यक्ति को जगाना भी उचित नहीं है।

तत्काल उदित बाल सूर्य की धूप का सेवन, चिता के धूम का सेवन, शूद्र-गृह में एकाकी प्रवेश, अपने जूतों को स्वयं ढोना, अकारण थूकना, बाहु द्वारा नदी को पार करना, पैर से पैर का धोना, अग्नि से पैर सेकना; देव, ब्राह्मण, गाय, अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा की ओर पैर करना, संध्या एवं मध्याह्न के समय शयन, उच्छिष्ट मुँह और हाथ से गौ, ब्राह्मण, अग्नि, देव-प्रतिमा, आसन का स्पर्श, अगाध जल में स्नान—ये सब कार्य भी सदाचार के विरुद्ध हैं।

बायें हाथ से उठाकर अथवा पशुवत् पानी पीना, बिना आचमन किये उत्तर देना, जल में वीर्य का त्याग, अशुद्ध रुधिर-युक्त पदार्थ का स्पर्श, पैर को नीचे लटकाना, कुएँ में उतरना, अपवित्र अवस्था में अग्नि को देखना, विक्रय के अयोग्य पदार्थों का छल से विक्रय, सत्य-सन्धि द्वारा किये गये समझौते को तोड़ना, पक्षियों को आपस में लड़ाना, शिल्पियों से अपना कार्य करा कर पारिश्रमिक न देना, भिक्षा के लिए प्रात: या सायं गृह के द्वारों को पीटना, विप्रों की सेवा में एकाकी गमन, बिना प्रदक्षिणा किये देव-मन्दिर से गमन, मुख से अग्नि का प्रज्वलन, देवमन्दिर में शयन आदि भी दोषपूर्ण कार्य हैं।

अकेले धर्मयात्रा, अधार्मिक रोगग्रस्त या पतित व्यक्तियों के साथ यात्रा, जूता और जल के बिना यात्रा, रात्रि के समय अविश्वस्त व्यक्ति के साथ यात्रा

नहीं करनी चाहिए। अग्नि, गाय एवं ब्राह्मण के मध्य से निकलना योगियों और सिद्धों की निन्दा, ब्राह्मणों एवं गायों की छाया का अतिक्रमण, अंगार, भस्म एवं केश आदि पर खड़ा रहना आदि दूषणों को बताकर वस्त्र-प्रक्षालन एवं स्नान के बाद बचे जल के छीटों से अपने को बचाना, अभक्ष्य, अपेय पदार्थों का त्याग करना जैसे कार्य भी सदाचार में परिगणित हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत १६वें अध्याय में सदाचार के लिए ग्राह्य एवं परित्याज्य पदार्थों की विस्तृत सूची दी गई है। यह दैनिक व्यवहार में हमारा मार्ग-दर्शन करती है। विनय और नम्रता के लिए भी यहाँ कुछ सुझाव हैं। मानवीय जीवन में शुद्धि-अशुद्धि, भक्ष्य-अभक्ष्य विचार और पारस्परिक व्यवहार में व्यक्तिगत एवं सामाजिक दृष्टि का पालन आवश्यक रहता है। इसीलिए अगले १७वें अध्याय में भक्ष्य एवं अभक्ष्य पदार्थों की चर्चा की गई है।

भक्ष्याभक्ष्य विचार

गृहस्थ के लिए क्या भक्ष्य है और क्या अभक्ष्य? इस विषय में यद्यपि आजकल के सामाजिक मूल्य परिवर्तित हो गये हैं, प्राचीन मूल्य बदलते जा रहे हैं, तो भी इनके प्राचीन स्वरूप को जान लेना हमारे लिए जरूरी है। धर्मशास्त्र के सभी ग्रन्थों में इनकी चर्चा हुई है। व्यासगीता में वर्णित इन नियमों की हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं।

यहाँ १७वें अध्याय में बताया गया है कि मोहवश अथवा अन्य किसी कारण से द्विज को शूद्र का अन्न नहीं खाना चाहिए। ऐसा करने पर उसे शूद्रयोनि प्राप्त होती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र में से जिसका अन्न उदर में रहते हुए व्यक्ति की मृत्यु होती है, उसे उसी की योनि प्राप्त होती है। कुम्हार, बढ़ई, लोहार, सुनार एवं सूतकी के अन्न का परित्याग करना चाहिए। अनादरपूर्वक दिये हुए तथा संस्कार-रहित अन्न का त्याग करना चाहिए। चोर, नास्तिक, देवता के निन्दक, और चांडाल का अन्न भी त्याज्य माना गया है। चरण आदि से संस्पृष्ट, रोष अथवा विस्मय के साथ दिये गये अन्न का भी त्याग करना चाहिए। मनुष्य का समस्त दुष्कर्म अन्न में स्थित रहता है, अत: जो जिसका अन्न खाता है, वह उसके पाप का भक्षण करता है।

शूद्रों में कृषि करने वाले, कुल के मित्र, अपनी गायों का पालन करने वाले और अपने दास के अन्न का भोजन किया जा सकता है। बुद्धिमान् व्यक्ति को शूद्रों में कुशीलव अथवा नाटक आदि करके अपनी जीविका चलाने वाले, खेत में काम करने वाले शूद्रों का अन्न अल्प मूल्य देकर खाना चाहिए। दूध एवं घी से बने पदार्थ एवं तेल का ग्रहण शूद्रों से द्विज कर सकता है।

विकार, अकर्म एवं असत्संगति से युक्त वस्तुओं का परित्याग करना चाहिए। केश एवं कीट से युक्त सन्देहास्पद, रजस्वला स्त्री एवं पतित लोगों के द्वारा अनादर पूर्वक दिया हुआ अन्न नहीं खाना चाहिए। क्रोधयुक्त, व्यभिचारिणी स्त्री के दिये हुए, मलिन वस्त्र धारण करने वाले व्यक्ति के दिये अन्न का एवं दूसरे के वस्त्र का भी त्याग करना चाहिए।

इस अध्याय में नाना प्रकार के पशु-पक्षियों एवं मछलियों के मांस के विषय में भी भक्ष्याभक्ष्य विषयक विचार किया गया है और बताया गया है कि द्विज को प्राण जाने की स्थिति होने पर यहाँ निर्दिष्ट पशु-पक्षी आदि के मांस को यथाविधि मन्त्रोच्चारपूर्वक जल के द्वारा अभिमन्त्रित करने के उपरान्त खाना चाहिए। यज्ञ आदि कर्म के अवशिष्ट मांस को खाने वाले को पाप नहीं लगता। इसी प्रकार औषध के लिए, शक्तिहीनता की अवस्था में, आमंत्रित होने पर अथवा यज्ञ के निमित्त मांस खाया जा सकता है। श्राद्ध या देवता सम्बन्धी कार्य में निमंत्रित होने पर मांस का त्याग करने वाला व्यक्ति उतनी बार नरक में जाता है, जितने रोम पशु के शरीर में हैं।

द्विजों के लिए मद्य दान देने, पीने, स्पर्श करने एवं देखने के योग्य नहीं है। अत: सभी प्रकार के मद्य का नित्य त्याग करना चाहिए। मद्य पीने से द्विज अपने कर्म से पतित एवं संभाषण के अयोग्य हो जाता है। अभक्ष्य का भक्षण करने वाला एवं अपेय का पान करने वाला द्विज तब तक अपने कर्म का अधिकारी नहीं होता, जब तक उसका पाप प्रायश्चित्त के द्वारा दूर नहीं हो जाता। अत: प्रयत्नपूर्वक नित्य अभक्ष्य एवं अपेय का परित्याग करना चाहिए, अन्यथा उसे घोर नरक में जाना पड़ता है।

आह्निक

१७वें अध्याय में भक्ष्याभक्ष्य का विवेचन करने के उपरान्त आगे के १८वें अध्याय में गृहस्थ की दिनचर्या पर प्रकाश डाला गया है। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में दिनचर्या आह्निक के नाम से जानी जाती है। यहाँ आह्निक एवं आचार का पर्याप्त महत्त्वपूर्ण विस्तार पाया जाता है। आह्निक का अभिप्राय है प्रतिदिन किये जाने वाले कर्म। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यासी के अलग-अलग आह्निक होते हैं, अर्थात् इनमें से प्रत्येक की दिनचर्या भिन्न-भिन्न होती है। बहुत प्राचीन काल से दिन को कई भागों में बाँटा गया है। कभी-कभी 'अह:' शब्द 'रात्रि' से पृथक् माना गया है और कभी-कभी यह एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय (दिन एवं रात्रि) तक का द्योतक माना गया है। आह्निक शब्द का प्रयोग यहाँ के दूसरे

अर्थ के लिए किया जाता है, अर्थात् इसमें एक सूर्योदय से लेकर दूसरे सूर्योदय तक के प्रत्येक वर्ण और आश्रम के कर्तव्य कर्मों का वर्णन किया जाता है।

आह्निक के अन्तर्गत ये प्रमुख विषय आते हैं—शय्या से उठना, शौच (शारीरिक शुद्धता), दन्तधावन, स्नान-संध्या, तर्पण, पाँच महायज्ञ, अग्नि-सेवा, भोजन, दान, शयन। यहाँ के १८वें अध्याय में इन विषयों का वर्णन मिलता है।

गृहस्थ को नित्य प्रात:काल उठकर नित्य-कर्म के बाद स्नान कर सन्ध्या-वन्दन, गायत्री-जप और ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। यज्ञोपवीत धारण करना, क्रोध का त्याग, गुरु-सेवा, श्राद्ध आदि सभी कार्य एकाग्रचित्त होकर करने से उसे परम गति प्राप्त होती है। शारीरिक पीड़ा से युक्त असमर्थ व्यक्ति को भीगे वस्त्र से शरीर को पोंछ लेना चाहिए, इसे कापिल स्नान कहते हैं।

ब्राह्म, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण एवं यौगिक—ये छ: प्रकार के स्नान हैं। जलबिन्दु युक्त कुशा से मन्त्रोच्चारपूर्वक मार्जन करना ब्राह्म स्नान, मस्तक से पैर तक भस्म लगाना आग्नेय स्नान, गायों की धूल के शरीर पर लिपटने से वायव्य स्नान, धूप के रहते हुई वर्षा से उत्तम दिव्य स्नान, जल में अवगाहन करने से वारुण स्नान और मन के द्वारा आत्मज्ञान से यौगिक स्नान सम्पन्न होता है। विष्णु का चिन्तन ही मुख्य योग है। ब्रह्मवादियों ने इसे **आत्मतीर्थ** की संज्ञा दी है। इससे मन शुद्ध होता है। यौगिक स्नान नित्य करना चाहिए।

स्नान के उपरान्त मन्त्रवेत्ता व्यक्ति आचमन कर देवता, ऋषि एवं पितरों का तर्पण करे। तदनन्तर मौन धारण कर गायत्री मन्त्र का जप करते हुए सूर्य को जलाञ्जलि दे। कुश के आसन पर बैठकर पूर्व दिशा की तरफ मुख कर तीन बार प्राणायाम करे। जगत् को उत्पन्न करने वाली संध्या मायातीत, निष्कल एवं तीन तत्त्वों से उत्पन्न ईश्वर की अद्वितीया शक्ति है।

विप्र को पूर्वाभिमुख होकर सावित्री का ध्यान करके गायत्री का जप करते हुए संध्या करनी चाहिए। ऐसा न करने पर वह अशुचि एवं कर्मों का अनधिकारी होता है, उनका फल नहीं मिलता, वह नरकगामी होता है। हजार बार का जप उत्कृष्ट, सौ बार का मध्यम एवं दस बार का जप निकृष्ट माना जाता है। तदनन्तर ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के सूर्य-सम्बन्धी मन्त्रों से उदयकालीन आदित्य की उपासना करना, मन्त्रोच्चारपूर्वक पृथ्वी पर मस्तक झुकाकर प्रणाम करना चाहिए। इसके उपरान्त हाथ में पवित्री, शुक्ल वर्ण का वस्त्र एवं उत्तरीय धारण कर पवित्र हृदय एवं एकाग्र मन से हवन करना चाहिए। जो व्यक्ति कुशा एवं यज्ञोपवीत के बिना कर्म करता है, वह इस लोक के साथ परलोक में भी फल का भागी नहीं होता।

इसके बाद देवों को नमस्कार कर उन्हें उत्कृष्ट पदार्थ निवेदित कर पुष्प आदि अर्पित करे। वृद्धों को प्रणाम, गुरु की सेवा, उनके हित का साधन, धर्मादि विषयक तत्त्वों, विशेषकर वैदिक शास्त्रों तथा वेदांगों का चिन्तन करना चाहिए। मध्याह्न के समय स्नान के लिए मिट्टी, अक्षत, पुष्प, कुशा, तिल इत्यादि लेकर नदी, खाड़ी, नैसर्गिक जल-स्थान, तालाब, सरोवर, झरना अथवा बावली इत्यादि में स्नान करे। आचमन और मार्जन-तर्पण करने के उपरान्त हाथ में जल लेकर मन्त्रोच्चारपूर्वक उस जल को अपने मस्तक पर छिड़कने से मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है। पुष्पयुक्त अञ्जलि को मस्तक से लगाने के उपरान्त पुष्प आदि को ऊपर की तरफ फेंक कर अन्धकार को दूर करने वाले भगवान् सूर्य का दर्शन कर सावित्री मन्त्र तथा सूर्योपस्थान के अन्य पापनाशक मन्त्रों के द्वारा सूर्योपस्थान करना एवं गायत्री मन्त्र का जप करना द्विज का कर्तव्य है।

जप के प्रसंग में यहाँ बताया गया है कि पूर्व की ओर मुख कर सूर्य को देखते हुए एकाग्रतापूर्वक जप करे। स्फटिक, रुद्राक्ष और इन्द्राक्ष की माला में उत्तरोत्तर अक्षमाला उत्तम है। जप के समय बोलना या किसी वस्तु-विशेष को नहीं देखना चाहिए। ऐसा करने से गुह्यक, राक्षस एवं सिद्ध बलात् जप के फल का अपहरण कर लेते हैं।

देवों एवं ब्रह्मर्षियों का तर्पण अक्षत एवं जल के द्वारा करना श्रेयकर है। क्रोध और शीघ्रता का त्याग कर ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, सूर्य एवं अन्य इष्ट देवों की पूजा करना, जल चढ़ाना, एकाग्र मन से प्रणव का उच्चारण कर देवों का ध्यान करना चाहिए। विष्णु की आराधना से अधिक पवित्र कोई वैदिक कर्म नहीं है। आदि और अन्त से रहित हरि की नित्य पूजा करनी चाहिए। पुरुषसूक्त चारों वेदों में श्रेष्ठ है, अतः तन्मय होकर पवित्र भाव से तेजःस्वरूप सनातन भगवान् ईशान महेश्वर का मन्त्र पढ़ कर पूजन करना, एकाग्र चित्त से रुद्रगायत्री, प्रणव, ईशान मन्त्र, शतरुद्र अथवा त्र्यम्बक मन्त्र एवं पुष्प, पत्र, जल, चन्दन आदि के द्वारा "नमः शिवाय" मन्त्र का उच्चारण कर महादेव की आराधना करनी चाहिए।

देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मानुषयज्ञ एवं ब्रह्मयज्ञ—ये पाँच महायज्ञ कहे जाते हैं। एकाग्र चित्त से कुशा धारण कर अग्नि की पश्चिम दिशा में बैठ कर शालाग्नि, लौकिकाग्नि, जल अथवा भूमि पर वैश्वदेव करना देवयज्ञ है। वैश्वदेव होम के बाद बचे अन्न के द्वारा भूतबलि कर्म करना भूतयज्ञ है। वह प्राणियों को ऐश्वर्य प्रदान करता है। प्रतिदिन एक ब्राह्मण को भोजन कराना नित्य श्राद्ध है। यह पितृयज्ञ मोक्ष प्रदान करता है। घर आये शान्त स्वभाव के

अतिथि का मन, वचन और कर्म के द्वारा पूजन करना, ब्रह्मचारी भिक्षुक को भिक्षा प्रदान करना, क्रोधरहित होकर अन्न देना मानुषयज्ञ है। प्रतिदिन वेदाभ्यास ब्रह्मयज्ञ कहलाता है। इस प्रकार सभी प्रकार के प्रयत्नों के द्वारा नित्य कर्मों को करने के बाद स्वजनों के साथ भोजन करने वाला व्यक्ति परम गति को प्राप्त करता है। मनुस्मृति (३.६७-२८६) में इन पाँच महायज्ञों का विस्तार से विधान मिलता है। वहाँ का यह श्लोक अवलोकनीय है—

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि।
पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥ (३.८१)

गृहस्थाश्रम के विधि-विधानों का उपसंहार करते समय भी मनुस्मृति (५.१६९) में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि गृहस्थ पाँच महायज्ञों का कभी परित्याग न करे।

ऊपर छः प्रकार के स्नानों के प्रसंग में दिव्य स्नान का भी उल्लेख है। कभी-कभी जब धूप निखरी रहती है, तभी पानी बरसने लगता है। उस वर्षा में किये स्नान को दिव्य स्नान कहते हैं। ऐसा अवसर बहुत प्रतीक्षा के बाद ही मिल पाता है। आत्मतीर्थ के नाम से प्रसिद्ध यौगिक स्नान का भी अपना महत्त्व है। सूर्यहृदयस्तोत्र के द्वारा भगवान् सूर्य की उपासना परिपूर्ण मानी जाती है। जप, स्वाध्याय, विष्णु और शंकर की आराधना जैसे विषय पंचायतन पूजा की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। देवयज्ञ, पितृयज्ञ आदि पाँच महायज्ञों को आज का समाज भूलता जा रहा है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आज की परिस्थिति में भी इन पाँच महायज्ञों का अपना महत्त्व है।

भोजन के नियम

धर्मशास्त्रकारों ने भोजन संबन्धी नियमों एवं प्रतिबन्धों के विषय में जो विवेचन उपस्थित किया है, उससे स्पष्ट होता है कि उन्होंने नियमों के विषय में विवाह संस्कार के उपरान्त इसी को सर्वाधिक प्रमुखता दी है। भोजन करने के सिलसिले में दक्ष (२.५६-६८) ने लिखा है कि दिन के पाँचवें भाग में गृहस्थ को अपनी सामर्थ्य के अनुसार देवों, पितरों, मनुष्यों एवं कीट-पतंगों को खिलाकर ही शेष अन्न का उपभोग करना चाहिए। आहारशुद्धि पर प्राचीन काल से ही बल दिया गया है। छान्दोग्योपनिषद् (७.२६.२) में लिखा है कि आहार-शुद्धि से सत्त्वशुद्धि और सत्त्वशुद्धि से सुन्दर एवं अटल स्मृति प्राप्त होती है एवं अटल स्मृति (वास्तविक तत्त्वज्ञान) से सारे बन्धन (जिनसे आत्मा इस संसार में बँधा रहता है) कट जाते हैं।

गौतम (९.५९), बौधायन (धर्मसूत्र २.७.३६), मनु० (२.५६), और संवर्त (१२) के अनुसार गृहस्थ को दो बार भोजन करना चाहिए, उसे

सन्धिकाल में नहीं खाना चाहिए। उसे भोजनपात्र (थाली या पत्तल) के नीचे जल से रेखा खींच देनी चाहिए। ब्राह्मण को ऊन के आसन पर या बकरी के चर्म पर बैठकर भोजन करना चाहिए। भोजन करने के पूर्व दो बार और भोजनोपरान्त पुनः आचमन करना चाहिए। भोजन के आने पर प्रसन्न मन से उसका सम्मान करे, उसमें किसी प्रकार का दोष न खोजे।

व्यासगीता में भी भक्ष्याभक्ष्य के विवेचन के उपरान्त यह विषय चर्चित है। कूर्मपुराण के उपरि विभाग के १९वें अध्याय में बताया गया है कि द्विज को हमेशा भोजन के पूर्व शरीर के पाँच अंगों का प्रक्षालन कर पात्र भूमि पर रखकर जल के साथ आपोशान करने के बाद भोजन करना चाहिए। शुद्ध आसन पर बैठकर पूर्व या सूर्य की ओर मुख कर भोजन करना द्विज का धर्म है। पूर्वाभिमुख भोजन करने से दीर्घायु, दाक्षिणाभिमुख से यश, पश्चिमाभिमुख से सम्पत्ति एवं उत्तर की ओर मुख करके भोजन करने से सत्य की प्राप्ति होती है। शरीर के पाँच अंगों (दोनों हाथ, दोनों पैर तथा मुख) का प्रक्षालन कर पात्र को भूमि पर रख कर भोजन करना उचित है। प्रजापति मनु ने इस प्रकार के भोजन को उपवास के तुल्य माना है। पवित्र स्थान पर क्रोधरहित हो "भूः, भुवः, स्वः" इन तीन व्याहृति-मन्त्रों का उच्चारण करते हुए आपोशान कर तदनन्तर स्वाहा एवं प्रणव के साथ 'प्राणाय' का उच्चारण कर आत्मा में आहुति देनी चाहिए। तत्पश्चात् देव, प्रजापति एवं आत्मा का ध्यान कर परिजनों के साथ भोजन करे। यह 'आत्मयाग' कहलाता है।

यज्ञोपवीत धारण कर, पवित्र सुगन्धयुक्त माला से अलंकृत होकर भोजन करने का विधान है। सूर्यग्रहण के पूर्व दिन में, चन्द्रग्रहण के पूर्व सायं एवं ग्रहण के समय भोजन न करे। ग्रहण समाप्त होने पर स्नान के उपरान्त भोजन करे। यज्ञशिष्ट पदार्थ से भिन्न, अन्यत्र चित्त कर, क्रोध करते हुए भोजन न करे। उत्तर की ओर मुख करके, जूता पहने, अर्धरात्रि में, गीले वस्त्र से, टूटे आसन पर, सोये अथवा खड़े होकर भोजन करना पाप है।

भोजन करते समय वेद का उच्चारण न करे। अन्धकार एवं देवालय में भोजन न करे। भोजन के उपरान्त शान्तिपूर्वक बैठक कर उस अन्न को पचावे, इतिहास-पुराण द्वारा वेदों के अर्थ का उपबृंहण करे। तत्पश्चात् द्विज पवित्रता-पूर्वक सन्ध्योपासन करे। उसे आसन पर बैठकर पश्चिम की ओर मुखकर गायत्री का जप करना चाहिए। जो व्यक्ति प्रातः या सायं संध्या नहीं करता, वह लोक में शूद्र के तुल्य समस्त धर्म से वर्जित होता है। अग्नि में मन्त्रों के द्वारा विधिवत् हवन के उपरान्त भृत्यों एवं बान्धवों के साथ यज्ञ से अवशिष्ट अन्न का भोजन कर सूखे पैर से सोना उचित है।

इस प्रकार ब्राह्मण को नित्य मोक्षदायक दैनिक कर्तव्यों को करना चाहिए। जो नास्तिकतावश या आलस्य के कारण इन कर्मों को नहीं करते वे घोर नरक में जाते हैं, अतः परमेष्ठी की प्रसन्नता के लिए द्विजों को इन कर्मों का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए।

यहाँ भोजन को 'आत्मयाग' की संज्ञा दी गई है। वह इसलिए कि अपनी जाठराग्नि में भोजन के माध्यम से आहुतियाँ दी जाती हैं और इससे शरीर का पोषण होता है। स्वस्थ शरीर ही धर्म का सर्वश्रेष्ठ साधन है। शरीर के स्वस्थ रहने पर मनुष्य धर्म का सविधि आचरण कर पाता है। नियमित भोजन से ही शरीर स्वस्थ रह सकता है। अतः नियमित भोजन की प्रक्रिया को 'आत्मयाग' बताना उचित ही है।

श्राद्ध-विधान

व्यासगीता में आगे के अध्यायों में श्राद्ध विषयक विधि-विधान प्रदर्शित हैं। कूर्मपुराण के उपरि विभाग के तीन (२०-२२) अध्यायों में इनको देखा जा सकता है। हम बहुत संक्षेप में ही इस विषय को प्रस्तुत कर रहे हैं।

पितरों के निमित्त जो कर्म श्रद्धापूर्वक किया जाता है, उसे श्राद्ध कहते हैं— "श्रद्धया दीयते यस्मात् श्राद्धस्तेन निगद्यते"। भारतीय संस्कृति के समर्थक समाज में श्राद्ध की अतीव महत्ता है। दिवंगत पितरों के लिए श्रद्धापूर्वक जो जलाञ्जलि, पिण्डदान आदि दिये जाते हैं, उसे श्राद्ध कहते हैं। अपने दिवंगत माता-पिता तथा स्नेही स्वजनों की मृत्यु के बाद दशाह आदि के प्रसंग में एवं वर्ष के मध्य में पड़ने वाले श्राद्ध-पक्ष में यह विधि की जाती है। उसमें जलाञ्जलि, चावल अथवा जौ के आटे से बने पिण्डों का प्रदान, भगवान् विष्णु का अर्चन, ब्राह्मण-भोजन आदि का विधान है। धर्मशास्त्र के सभी ग्रन्थों में विस्तार से यह विधि वर्णित है। पुराणों में भी यथाप्रसंग इनका विधि-विधान देखा जा सकता है।

कूर्मपुराण के उक्त तीन अध्यायों में भी श्राद्ध के लिए प्रशस्त सभी तिथियों और स्थानों की चर्चा के साथ श्राद्ध के विविध प्रकारों का स्वरूप भी बताया गया है। श्राद्ध में किस तरह के ब्राह्मणों को निमन्त्रित करना, किनको न करना, जैसे विषय भी चर्चित हैं। दैव कर्म में ब्राह्मण की परीक्षा अपेक्षित नहीं है, किन्तु पित्र्य कर्म के लिए इसको अत्यन्त आवश्यक माना गया है। यह भी बताया है कि पित्र्य कर्म में अधिक भीड़-भाड़ उचित नहीं है। अमावास्या के दिन किया जाने वाला श्राद्ध पिण्डान्वाहार्यक कहलाता है। सामान्यतः नित्य, नैमित्तिक और काम्य के भेद से श्राद्ध के तीन भेद माने गये हैं। चतुर्दशी तिथि को श्राद्ध नहीं किया जाता, क्योंकि उस दिन शस्त्र से मारे गये मनुष्य का ही श्राद्ध होता है।

सभी शुभ कर्मों के आरम्भ में तथा पुत्र का जन्म होने पर आभ्युदयिक (नान्दी) श्राद्ध एवं पर्व के दिनों में किया जाने वाला श्राद्ध पार्वण कहलाता है। नान्दी श्राद्ध की चर्चा पहले (पृ० ७-८) आ चुकी है। नित्यश्राद्ध, काम्यश्राद्ध, एकोद्दिष्ट आदि नैमित्तिक श्राद्ध, वृद्धिश्राद्ध एवं पार्वणश्राद्ध के नाम से पाँच प्रकार के श्राद्धों का वर्णन सर्वत्र मिलता है। इनके अतिरिक्त तीर्थयात्रा के अवसर पर छठा श्राद्ध किया जाता है। ब्रह्मा ने शुद्धि के लिए सातवें तथा दैविक नामक ८वें श्राद्ध का भी विधान किया है, जिसको करने से भय से छुटकारा मिलता है।

श्राद्ध के लिए पवित्र स्थलों एवं देशों की चर्चा के उपरान्त श्राद्ध की विधि का तथा श्राद्धभोजन के लिए अयोग्य व्यक्तियों का भी उल्लेख यहाँ मिलता है। यहाँ का २२वाँ अध्याय श्राद्धकल्प के नाम से प्रसिद्ध है। श्राद्ध-सम्बन्धी अनेक नियमों की यहाँ चर्चा है। विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि श्राद्ध में निमन्त्रित श्रेष्ठ लोगों को मौन धारण कर भोजन करना चाहिए। पक्वान्न के गुणों का वर्णन नहीं करना चाहिए, क्योंकि पितृगण तभी तक भोजन करते हैं, जब तक भोज्य पदार्थ के गुणों का वर्णन नहीं होता। श्राद्ध-स्थल से उच्छिष्ट अन्न को सूर्यास्त के बाद हटाना चाहिए। श्राद्धकर्ता और श्राद्ध में भोजन करने वाले व्यक्ति को पवित्र, अक्रोधी, सत्यवादी और एकाग्रचित्त होना चाहिए। आमश्राद्ध, एकोद्दिष्ट श्राद्ध आदि के प्रसंग में काम्यश्राद्ध के रूप में आभ्युदयिक श्राद्ध की पुनः चर्चा की गई है और बताया गया है कि यह नान्दी श्राद्ध के रूप में प्रसिद्ध है और इसमें तिल के स्थान पर यव का प्रयोग किया जाता है। इस श्राद्ध में प्रथम भक्तिपूर्वक गणेश्वर के साथ षोडश मातृकाओं की पूजा की जाती है। पिता की मृत्यु हो जाने पर व्यक्ति श्राद्ध करेगा, किन्तु पितामह यदि जीवित है, तो उस स्थिति में क्या होगा? शास्त्रो में इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए बताया गया है कि जीवित व्यक्ति को पिण्ड न देकर उसे श्राद्ध में भोजन कराना चाहिए। यही है श्राद्ध की संक्षिप्त विधि।

आशौच

श्राद्ध के साथ आशौच का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आजकल इसके विषय में, विशेषकर जननाशौच के विषय में हमारा ज्ञान क्षीण होता जा रहा है। जनन और मरण के अतिरिक्त चन्द्र एवं सूर्य के ग्रहण के अवसर पर भी यह स्थिति रहती है। इन सबके लिए विशेष रूप से सूतक शब्द प्रचलित है। अब हम संक्षेप में इस पर भी दृष्टिपात कर लें। यहाँ २३वें अध्याय में यह विषय चर्चित है।

शुद्धि के अन्तर्गत आशौच का सबसे अधिक महत्त्व है। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में शुद्धि शब्द का प्रयोग आशौच के उपरान्त की शुद्धि के लिए किया गया

है। जैसे कि ब्राह्मण किसी सम्बन्धी के जन्म या मरण पर १० दिनों के उपरान्त शुद्ध होता है, आदि-आदि। आशौच अथवा सूतक द्विज के लिए ग्राह्य माना गया है। सपिण्ड व्यक्ति के मरने पर वह १० दिन तक कोई धार्मिक कार्य नहीं करता।

अपने परिवार में किसी सपिण्ड मनुष्य के मरने या बालक के पैदा होने पर ब्राह्मण के लिए दस दिन का आशौच कहा गया है। विहित, नित्य एवं काम्य कर्म का अनुष्ठान तथा स्वाध्याय आशौच के समय वर्जित है। सूतकी व्यक्ति यज्ञशाला की अग्नि के लिए पवित्र अक्रोधी ब्राह्मण को नियुक्त करे, शुष्कान्न अथवा फल द्वारा हवन करे, अशुचि व्यक्ति का स्पर्श न करे और न ही उससे कोई वस्तु ले। तत्काल उत्पन्न बालक एवं प्रसूता का स्पर्श नहीं करना चाहिए। यागकर्ता एवं वेदज्ञ पिता स्नान के उपरान्त स्पर्श योग्य हो जाता है। माता दस दिन के उपरान्त स्पर्श योग्य होती है।

इस अध्याय में जननाशौच और मरणाशौच की विभिन्न स्थितियों का वर्णन किया गया है। २५वें श्लोक में आशौच के लिए सूतक और शाव शब्द प्रयुक्त है। इस विषय (शुद्धि, श्राद्ध और आशौच) पर काणे महोदय (भा० ३, पृ० ११५७-१२९८) ने बहुत विस्तार से विचार किया है। योगशास्त्र (२.३२) में नियमों के अन्तर्गत शौच की गणना है। कूर्मपुराण (३.११.२८) में भी नियमों के अन्तर्गत बाह्य और आन्तर द्विविध शौच का वर्णन है। स्पष्ट है कि भारतीय धर्म और दर्शन के क्षेत्र में शुचिता (शुद्धि) का अपना महत्त्व है।

अग्निहोत्र

आगे के २४वें अध्याय में अग्निहोत्र का विधान बताया गया है। भारतीय समाज में कभी अग्निहोत्र की महती प्रतिष्ठा थी, किन्तु आजकल काशी जैसी धर्मनगरी में भी अग्निहोत्रियों का अभाव होता जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में इस विषय की थोड़ी-बहुत जानकारी हमारे लिए आवश्यक है।

प्रातः व सायं अग्निहोत्र होम करना गृहस्थ द्विज का धर्म है। अमावास्या व पूर्णिमा को हवन किया जाता है। दीर्घ आयु के अभिलाषी साग्निक द्विज को बिना नवशस्येष्टि को नया अन्न नहीं ग्रहण करना चाहिए। प्रत्येक वर्ष में नियमपूर्वक सावित्री होम एवं शान्ति होम करना, तीन अष्टकाओं और पौष-माघ-फाल्गुन की कृष्ण पक्ष की नवमी तिथियों में पितरों का अर्चन करना गृहस्थ का श्रेष्ठ धर्म है। नास्तिकता एवं आलस्य के कारण जो अग्नि का आधान एवं यज्ञ नहीं करता, वह नरक में जाता है। अतः ब्राह्मण को सभी प्रकार के प्रयत्नों के द्वारा अग्नि का आधान कर शुद्ध चित्त से परमेश्वर की आराधना करनी चाहिए। द्विजों के लिए अग्निहोत्र से श्रेष्ठ कोई धर्म नहीं है, अतः अग्निहोत्र द्वारा शाश्वत पुरुष की नित्य आराधना करनी चाहिए।

सृष्टि के प्रारम्भ में साक्षात् पितामह ब्रह्मा ने द्विजों की मुक्ति-हेतु कल्याणकारी जिस धर्म का विधान किया, वह श्रौत और स्मार्त के भेद से दो प्रकार का है। तीन अग्नियों के संबन्ध से सम्पन्न श्रौत धर्म श्रेयस्कर है। श्रुति और स्मृति के अभाव में शिष्टाचार तीसरा धर्म है। धर्मपूर्वक इतिहास-पुराण रूपी उपबृंहण सहित वेदों का ज्ञान प्राप्त करने वाले, आत्मिक गुणों से संपन्न ब्राह्मणों को शिष्ट कहा जाता है। पुराण और धर्मशास्त्र वेदों के उपबृंहण हैं। एक से ब्रह्मज्ञान की और दूसरे से धर्मज्ञान की प्राप्ति होती है। धर्म की जिज्ञासा करने वालों के लिए धर्मशास्त्र श्रेष्ठ माना गया है। पुराण ब्रह्मज्ञान के उत्कृष्ट साधन हैं। वेद के अतिरिक्त अन्य कहीं से धर्म एवं वैदिक ब्रह्मविद्या का लाभ नहीं मिल सकता, अतः बुद्धिमान् व्यक्ति धर्मशास्त्र और पुराण का अध्ययन वेद के उपबृंहण के रूप में करना चाहिए।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में अग्निहोत्री के कर्तव्यों की संक्षिप्त सूचना देने के साथ श्रौत और स्मार्त धर्म का परिचय देते हुए श्रौत धर्म की श्रेष्ठता को दिखाया गया है। यहाँ धर्म के प्रति श्रुति और स्मृति के साथ शिष्टाचार, इतिहास-पुराण और धर्मशास्त्र को भी प्रमाण माना है।

जीविका (वृत्ति)

अगले २५वें अध्याय में द्विज की जीविका, अर्थात् वृत्ति का वर्णन किया गया है। आजीविका के बिना व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता। ब्राह्मण को अपनी जीविका के लिए अध्यापन, याजन एवं प्रतिग्रह का सहारा लेना चाहिए। साधक एवं असाधक के भेद से गृहस्थ दो प्रकार का माना गया है। पहले (पृ० ४३) उदासीन और साधक के नाम से गृहस्थ दो प्रकार के बताये गये थे। उनमें से उदासीन को ही यहाँ असाधक कहा गया है। साधक ब्राह्मण गृहस्थ की जीबिका का साधन अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह है। इसके अभाव में वह कृषि एवं वाणिज्य द्वारा परोक्ष रूप से अपनी जीविका चला सकता है। इसे आपत्कालीन विकल्प मानना चाहिए। ब्राह्मण की मुख्य वृत्ति अध्यापन आदि ही है।

क्षत्रिय के लिए शस्त्र द्वारा जीविकार्जन को श्रेष्ठ माना गया है। क्षात्रवृत्ति से निर्वाह न होने पर वह कृषिस्वरूप वैश्य वृत्ति का सहारा ले सकता है, किन्तु ब्राह्मण को खेत कभी नहीं जोतना चाहिए। कृषि से लाभ होने पर पितृगण, देवगण एवं ब्राह्मणों की पूजा करने से वे द्विजों के कर्मजन्य दोषों का नाश कर देते हैं। साधक गृहस्थ ब्राह्मण शिलोञ्छ वृत्ति अथवा विद्या, शिल्प आदि से भी अपनी जीविका चला सकता है।

असाधक (उदासीन) गृहस्थ ब्राह्मण के लिए शिलोञ्छ एवं उञ्छ नामक दो वृत्तियों का विधान है। वह अमृत अथवा मृत नामक वृत्ति के द्वारा भी जीवन-

निर्वाह कर सकता है। अयाचित वस्तु अमृत तथा याचना के द्वारा भिक्षा स्वरूप प्राप्त वस्तु मृत है। ऐसे गृहस्थ को कुशूलधान्यक, कुंभीधान्यक, त्र्यहैहिक अथवा अश्वस्तनिक होना चाहिए। इनमें उत्तरोत्तर गृहस्थ ब्राह्मण श्रेष्ठ होता है। अधिक पौष्य वर्ग से सम्पन्न ब्राह्मण अध्यापन आदि के द्वारा जीविका का निर्वाह करता है। ब्राह्मण ब्राह्म यज्ञ द्वारा भी अपनी जीविका चलाता है।

जीविका के लिए मिथ्या-भाषण, कुटिलता, छल-कपट का अवलम्बन न कर सज्जनों से अन्न लेकर पितरों एवं देवताओं को सन्तुष्ट करना ब्राह्मण का धर्म है। पवित्र इन्द्रिय-निग्रही से अन्न लेना चाहिये, किन्तु उससे अपनी तृप्ति नहीं करनी चाहिए। यहाँ बताया गया है कि जो गृहस्थ द्रव्योपार्जन करने के उपरान्त देवताओं और पितरों को सन्तुष्ट नहीं करता, वह हीन योनि में जन्म लेता है। धर्म, अर्थ, काम और कल्याणकारी मोक्ष नामक चार पुरुषार्थ हैं। जो अर्थ धर्म के लिए होता है, वही अर्थ है। इससे भिन्न अर्थ अनर्थकारी होता है। अतः अर्थ प्राप्त करने के उपरान्त दान, हवन एवं यज्ञ करना द्विज का धर्म है।

व्यासगीता के इस प्रकरण को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि द्विज के अन्तर्गत ब्राह्मण को प्रधान मान कर उसी की जीविका के साधनों को यहाँ प्रधान रूप से बताया गया है। चारों वर्णों की जीविका का विस्पष्ट विवेचन पहले वर्णों का परिचय देते समय (पृ० ४०-४३) मनुस्मृति के आधार पर अधिक विस्तार से किया जा चुका है।

दान धर्म

दान का अर्थ प्राचीन काल में ही स्पष्ट कर दिया गया था। याग, होम एवं दान में अन्तर है। याग में देवता के लिए वैदिक मन्त्रों के साथ कुछ वस्तुओं का त्याग होता है, होम में अपनी किसी वस्तु की आहुति किसी देवता के लिए अग्नि में दी जाती है, दान में किसी दूसरे को अपनी वस्तु का स्वामी बना दिया जाता है। दान लेने की स्वीकृति मानसिक, वाचिक या शारीरिक रूप से हो सकती है। मिताक्षरा का कहना है कि शारीरिक स्वीकृति एक हाथ में ले लेने या छू देने से हो जाती है। मनु० (४.५) की टीका में मेधातिथि का कहना है कि ग्रहणमात्र प्रतिग्रह नहीं है। प्रतिग्रह उसी को कहते हैं, जो विशिष्ट स्वीकृति का परिचायक हो, अर्थात् जब उसे स्वीकार किया जाय, तो दाता को अदृष्ट आध्यात्मिक पुण्य प्राप्त हो और जिसे देते समय वैदिक मन्त्र पढ़ा जाय। जब कोई भिक्षा देता है, तब वह कोई मन्त्र नहीं पढ़ता, अतः वह शास्त्रविहित दान नहीं है। इसी तरह स्नेह से मित्र या नौकर को दिया गया पदार्थ भी प्रतिग्रह नहीं है। जब हम 'विद्या-दान' शब्द का प्रयोग करते हैं, तो यहाँ दान शब्द मात्र आलंकारिक है।

देवल की परिभाषा के अनुसार शास्त्र द्वारा उचित माने गये व्यक्ति के लिए शास्त्रानुमोदित विधि से प्रदत्त धन को दान कहते हैं। जब किसी उचित व्यक्ति को केवल अपना कर्तव्य समझ कर कुछ दिया जाता है, तो उसे धर्मदान कहा जाता है। देवल ने दान के छः अंगों का वर्णन किया है—१. दाता, २. प्रतिग्रहीता, ३. श्रद्धा, ४. धर्मयुक्त देय, ५. उचित काल एवं ६. उचित देश (स्थान)। इन विषयों का वर्णन कूर्मपुराण के उपरि विभाग के २६वें अध्याय में व्यासगीता के आधार पर किया गया है। दान के महत्त्व का वर्णन करते हुए वहाँ कहा गया है कि व्यक्ति को अर्थ की प्राप्ति के उपरान्त दान आदि करने चाहिए।

वहाँ दान की परिभाषा इस प्रकार की गई है—श्रद्धापूर्वक विशिष्ट सदाचार-संपन्न, वेद-वेदांग के अध्ययन में निरत व्यक्ति को जो वस्तु प्रदान की जाती है, वह दान है। यह भोग और मोक्ष को देने वाला है। दान के भेदों को बताते हुए यहाँ कहा गया है कि नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य के भेद से दान तीन प्रकार का है। यहाँ विमल नामक चतुर्थ दान भी चर्चित है। यह दान सभी दानों में श्रेष्ठ है। जो दान अनुपकारी ब्राह्मण को दिया जाता है, उसे नित्य दान, पाप की शान्ति के लिए किसी विद्वान् को दिया गया नैमित्तिक और सन्तान एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए किया गया दान काम्य है। इन तीनों से भिन्न ब्रह्मवेत्ताओं को दिया गया दान 'विमल' दान कहलाता है। आगे यहाँ बताया गया है कि भूमिदान, अन्नदान और विद्यादान करने पर व्यक्ति श्रेष्ठ स्थान को प्राप्त कर समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। इनमें विद्यादान सबसे श्रेष्ठ है।

आगे विभिन्न तिथियों में तिल, धान, सुवर्ण आदि के दान की विधि बताई गई है। विशिष्ट कामनाओं की पूर्ति के लिए विभिन्न देवताओं की उपासना के विधान को बता कर कहा गया है कि शंकर अथवा विष्णु को उद्देश्य कर ब्राह्मण को जो दान दिया जाता है, वह अनन्त फल देता है। यहाँ बताया गया है कि ऐश्वर्य के अभिलाषी को इन्द्र की, ब्रह्मप्राप्ति के इच्छुक को ब्रह्मा की, आरोग्य के लिए सूर्य की, धन के लिए अग्नि की, कर्म की सिद्धि के लिए गणेश की पूजा करनी चाहिए। जो मोक्ष एवं ईश्वर-ज्ञान के लिए महादेव की पूजा करता है, उसे सुख-शान्ति प्राप्त होती है।

जल, गृह आदि के दानों का फल बताते हुए आगे कहा गया है कि ब्राह्मण को भूमिदान करने से मनुष्य को सर्वस्व की और विविध प्रकार के भोज्य पदार्थों के दान से आनन्द की प्राप्ति होती है। इस संसार में प्राणियों के लिए दान से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। इसी तरह से किनको दान नहीं देना चाहिए, इसकी चर्चा के प्रसंग में बताया गया है कि धर्मज्ञ को नास्तिक एवं

वेदज्ञान से विहीन व्यक्ति को दान नहीं देना चाहिए। धन के लोभ में आसक्त व्यक्ति ब्राह्मण्य से हीन हो जाता है। उसे वेदों के अध्ययन से और यज्ञों के करने से भी गति प्राप्त नहीं होती।

प्रसंगवश हम संक्षेप में बता चुके हैं (पृ० ५८) कि मनुस्मृति के तृतीय अध्याय में पाँच महायज्ञों का स्वरूप विस्तार से वर्णित है। पितृयज्ञ और नृयज्ञ का स्वरूप बताते समय यहाँ श्राद्धविषयक एवं अतिथिविषयक विधि-विधानों का विश्लेषण किया गया है। दैव की अपेक्षा पित्र्य कर्मों के अनुष्ठान में अधिक सावधानी रखने का निर्देश दिया गया है और बताया गया है पित्र्य कर्मों में अधिक विस्तार वर्जित है।

तृतीय अध्याय की भाँति चतुर्थ और पंचम अध्याय में भी वहाँ उन गृहस्थ धर्मों का विस्तार मिलता है, जिनकी ऊपर चर्चा हो चुकी है। चतुर्थ अध्याय में गृहस्थाश्रम की अवधि, गृहस्थ की वृत्ति (आजीविका) का विधान और सदाचार के रूप में वर्णित नियमों का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रसंगवश (४.८७-९०) इक्कीस प्रकार के नरकों की नामावली भी यहाँ दी गई है। अनध्याय के प्रसंग में सामवेद की विशेष स्थिति (४.१२३-१२४) चर्चित है। प्रतिग्रह, भोजन एवं दान सम्बन्धी नियमों की विशेष रूप से चर्चा की गई है। अन्त में धर्म की महिमा को उजागर करते हुए कहा गया है कि गुरु, अतिथि और देवकार्य को सम्पन्न करने के लिए वह कहीं से भी सहायता ले सकता है।

पाँचवें अध्याय के प्रारम्भ में ऋषिगण प्रश्न करते हैं कि अपने-अपने धर्मों का विधिवत् अनुष्ठान करने वाले धार्मिक जनों को भी मृत्यु कैसे पकड़ लेती है? उत्तर में यहाँ (५.४) चार कारण बताये हैं—१. वेद आदि शास्त्रों का अभ्यास न करना, २. सदाचार का पालन न करना, ३. आलस्य करना और ४. अन्न दोष। इतना बताने के उपरान्त वहाँ अन्नदोष के प्रसंग में भक्ष्याभक्ष्य का विस्तार से विवरण दिया गया है। इस प्रकरण का अन्तिम श्लोक यह है—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥ (५.५६)

यहाँ मनु का कहना है कि मांसभक्षण, मद्यपान अथवा मैथुन कर्म में कोई दोष नहीं है, क्योंकि सामान्य जनों की इनमें स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है। इतना कहने से उपरान्त वे इसमें जोड़ते हैं कि जो व्यक्ति इनसे निवृत्त रहता है, वह निवृत्ति उसके भविष्य को कल्याण से भर देती है।

आगे पूरे अध्याय में प्रेत-शुद्धि (आशौच), द्रव्य-शुद्धि और वर्ण-शुद्धि के विधि-विधानों का निरूपण हुआ है। हम कह सकते हैं कि इनमें भक्ष्याभक्ष्य एवं शुद्धि-अशुद्धि की व्याख्या की गई है। इस प्रसंग में अर्थ शुद्धि(५.१०६) पर

विशेष जोर दिया गया है। इसी तरह से देहशुद्धि के प्रसंग में शरीरगत १२ मल इस तरह से चर्चित हैं—

वसा शुक्रमसृङ् मज्जा मूत्रं विड् घ्राणकर्णविट्।
श्लेष्माश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः॥ (५.१३५)

चर्बी, वीर्य, रक्त, मज्जा, मूत्र, विष्ठा, नाक और कान का मैल, कफ, अश्रु, गीजड़ और पसीना—ये ही शरीरगत १२ प्रकार के मल हैं।

अन्त में चारों आश्रमों के लिए आवश्यक शुद्धि को बताकर स्त्री के धर्मों का वर्णन किया गया है।

प्रसंगवश मनुस्मृति (३-५ अध्याय) में निर्दिष्ट गृहस्थाश्रम के धर्मों की यहाँ चर्चा की गई है। कूर्मपुराण के प्रस्तुत २६वें अध्याय के अन्त में बताया गया है कि संयत चित्त वाला, देवता और अतिथियों की पूजा करने वाला, योगयुक्त, गृहस्थ परम पद को प्राप्त करता है। अपना सर्वस्व पुत्र को देने के उपरान्त तत्त्व-ज्ञानी पुरुष को वन में एकाकी विचरण करना चाहिए। जिस गृहस्थ धर्म का यहाँ वर्णन किया गया है, उसका पालन करने वाला व्यक्ति समस्त भूतों की मूलकारण प्रकृति का अतिक्रमण कर परम पद को प्राप्त करता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

इस फलश्रुति के साथ ही यहाँ गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों का वर्णन करने वाला यह प्रकरण समाप्त हो जाता है। आगे क्रमानुसार वानप्रस्थाश्रम का प्रकरण प्रारम्भ होता है।

३. वानप्रस्थाश्रम

कूर्मपुराण के उपरि विभाग में स्थित व्यासगीता के आधार पर यहाँ के १५-२६ अध्यायों में गृहस्थ के धर्मों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके पहले १२-१५ अध्यायों में ब्रह्मचारी एवं स्नातक के कर्तव्यों का निरूपण किया गया था। तदनुसार प्रथम दो आश्रमों के धर्मों का निरूपण हम कर चुके हैं। अब उसी पद्धति से वहाँ के २७वें अध्याय का अनुसरण करते हुए हम वानप्रस्थाश्रम के धर्मों की चर्चा करने जा रहे हैं।

वानप्रस्थों के लिए बने बहुत से नियम एवं कर्तव्य ज्यों के त्यों संन्यासियों के लिए भी पाये जाते हैं। मनुस्मृति (६.२५-२९) में जो नियम वानप्रस्थों के लिए बताये गये हैं, वे ही पारिव्राजकों के लिए भी हैं (मनु० ६.३८, ४३ एवं ४४। यही बात आपस्तम्ब धर्मसूत्र (३.९.३१.१० एवं २०) में भी पाई जाती है। वानप्रस्थ ही तो बाद में संन्यासी हो जाता है। दोनों को ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-निग्रह, भोजन-नियम आदि का पालन करना पड़ता था, उपनिषदों को मनोयोग से पढ़ना पड़ता था और ब्रह्मलाभ के लिए प्रयत्न करना पड़ता था। दोनों आश्रमों में कुछ

अन्तर भी थे। वानप्रस्थी अपने साथ स्त्री को भी रख सकता था, किन्तु संन्यासी के लिए ऐसा विधान नहीं है। वानप्रस्थ को आरम्भ में अग्नि प्रज्वलित रखनी पड़ती थी, आह्निक एवं अन्य यज्ञ करने पड़ते थे, किन्तु संन्यासी अग्नि का त्याग कर देते थे। वानप्रस्थ को तप करना पड़ता था, आहार आदि के अभाव का क्लेश सहना पड़ता था, अपने को तपाना पड़ता था, किन्तु संन्यासी को मुख्यतः अपनी इन्द्रियों पर संयम रखना पड़ता था एवं परम तत्त्व का ध्यान करना पड़ता था। इसी प्रसंग में ब्रह्मसूत्रभाष्य का यह वचन ध्यान देने योग्य है—"तपश्चासाधारणो धर्मो वानप्रस्थानाम्, कायक्लेशप्रधानत्वात्, तपःशब्दस्य तत्र रूढेः। भिक्षोस्तु धर्म इन्द्रियसंयमादिलक्षणो नैव तपःशब्देनाभिधीयते" (३.४.२०)। इस वाक्यावली का अभिप्राय ऊपर आ चुका है।

स्पष्ट है कि गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ धर्म का क्रम आता है। इस आयु में व्यक्ति को सबका मोहत्याग कर नियमपूर्वक देवताओं का पूजन और तप करते हए मुनि-व्रत द्वारा मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। धर्मशास्त्रों का विधान है कि आयु के द्वितीय भाग तक गृहस्थाश्रम में रहने के बाद तृतीय भाग में अग्नि एवं भार्या के साथ व्यक्ति को वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए या पुत्र के पुत्र को देखने के उपरान्त शरीर के जर्जर हो जाने से पहले ही अपनी भार्या के भरण-पोषण का भार पुत्रों को सौंप कर व्यक्ति को वानप्रस्थ धर्म को निभाना चाहिए। वन में जाने के उपरान्त एकाग्र मन से तप करना, नित्य पवित्र फलों एवं मूलों का आहार जुटाना, नियमित आहार करते हुए पितरों एवं देवताओं का पूजन करना चाहिए। नित्य स्नान करने के उपरान्त अतिथियों का पूजन कर देव-पूजन और नित्य स्वाध्याय में निरत रहना चाहिए।

यहाँ बताया गया है कि वानप्रस्थी अग्निहोत्र संबन्धी हवन एवं वन में उपलब्ध मुनियों के पवित्र अन्नों; शाक, मूल एवं फलों से पाँच महायज्ञों का अनुष्ठान करे, प्राणीमात्र पर अनुकम्पा करे एवं प्रतिग्रह (दान) का त्याग करे। वानप्रस्थी द्विज को दर्श-पौर्णमास, नक्षत्र-याग, नवशस्येष्टि, चातुर्मास याग तथा उत्तरायण एवं दक्षिणायन याग करना चाहिए। वह सदा विधि के अनुसार वह्नि की परिचर्या करे, किसी भी प्राणी से द्रोह न करे, निर्द्वन्द्व एवं निर्भय रहे। उसके लिए ध्यान-परायण, जितेन्द्रिय, क्रोधरहित, तत्त्वज्ञान का विचारक एवं ब्रह्मचारी होना जरूरी है।

गायत्री मन्त्र के जप में तत्पर रहते हुए वानप्रस्थी को भूमि पर शयन करना, प्राणियों को शरण देना, दानशील होना एवं परीवाद, असत्य भाषण, निद्रा तथा आलस्य का त्याग करना चाहिए, एकाकी एवं गृहशून्य होना चाहिए। उसे मृगों के साथ विचरण करना, फल-मूल आदि का संग्रह करना, जीर्ण वस्त्रों का

एवं पूर्वसंचित पदार्थों का त्याग करना, यथाशक्ति दिन में अन्न लाकर रात्रि में आहार करना या एक दिन के उपवास के बाद दूसरे दिन रात्रि में भोजन करना, या तीन दिन उपवास के बाद चौथी रात्रि में आहार करना, शुक्ल और कृष्ण पक्ष में चान्द्रायण की विधि से निर्वाह करना अथवा प्रत्येक पक्ष में उबाली यवागू का भक्षण करना चाहिए। वह पितरों का तर्पण और पंचाग्नि का सेवन करे। उसे धूम्रपा, ऊष्मपा अथवा सोमपा बनना चाहिए।

वह सदा रुद्राध्याय और अथर्ववेद का स्वाध्याय करे, योगाभ्यास और वेदान्ताभ्यास करे, आलस्य रहित होकर निरन्तर यमों एवं नियमों का पालन करे, कृष्ण मृग का चर्म, उत्तरीय एवं शुक्ल यज्ञोपवीत धारण करे। वह अग्नियों को अपनी आत्मा में आरोपित कर ध्यान करे। उसे अग्नि एवं गृह का त्याग कर मुनिव्रत द्वारा मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। आत्मज्ञान की सिद्धि के लिए उसे उपनिषदों का एवं विशेष विद्याओं का अध्ययन करना एवं गायत्री मन्त्र का जप करना चाहिए। जो वानप्रस्थी तपस्वी अकल्याण को दूर करने वाले इस कल्याणकारी आश्रम का भलीभाँति आश्रय लेता है, वह उस ईश्वरीय स्थान को प्राप्त करता है, जहाँ यह जगत् स्थित है।

मनुस्मृति (६.१-३२) और 'धर्मशास्त्र का इतिहास' (भा० १, पृ० ४८२-४८९) में भी वानप्रस्थ एवं वैखानस, वानप्रस्थ का काल, वानप्रस्थ के नियम, वानप्रस्थों के प्रकार, वानप्रस्थ के अधिकारी, वानप्रस्थ एवं संन्यास जैसे विषयों को देखा जा सकता है। वैखानस मत का उल्लेख मनुस्मृति (६.२१) में भी हुआ है।

४. संन्यासाश्रम

इस प्रकार २७वें अध्याय में वानप्रस्थ के धर्मों का निरूपण करने के बाद २८-२९ अध्यायों में यति (संन्यासी) के धर्मों का विधान किया गया है। कूर्मपुराण के पूर्व विभाग के २-३ अध्यायों में इस विषय की संक्षिप्त चर्चा आ चुकी है। यहाँ संन्यासी को आयु के चतुर्थ भाग में संसार की मोह-माया से हटकर संयमपूर्वक अपना जीवन भगवद्भजन में किस प्रकार अर्पित कर दे, इस पर प्रकाश डाला गया है।

यहाँ भी प्रारम्भ में बताया गया है कि आयु के चतुर्थ भाग को संन्यास द्वारा व्यतीत करना संन्यासी का धर्म है। अग्नियों को आत्मा में स्थापित कर ब्रह्मविद्या में लीन हुए द्विज के लिए संन्यास ग्रहण करना श्रेयस्कर है। जब संसार के प्रति व्यक्ति के मन में वितृष्णा उत्पन्न हो, तभी संन्यास की इच्छा करनी चाहिए। प्राजापत्य अथवा आग्नेय याग करने के उपरान्त इन्द्रियनिग्रही एवं वैराग्ययुक्त द्विज को ब्रह्माश्रम (संन्यास) में प्रवेश करना चाहिए।

संन्यासी तीन प्रकार के होते हैं—१. ज्ञान संन्यासी, २. वेद संन्यासी और ३. कर्म संन्यासी। जो निर्द्वन्द्व, निर्भय एवं अपनी आत्मा में स्थित हो, उसे ज्ञान संन्यासी कहते हैं। मोक्षार्थी, विजितेन्द्रिय और नित्य वेदाभ्यास करने वाला वेद संन्यासी तथा अग्नियों को आत्मसात् कर ब्रह्मार्पण-तत्पर महायज्ञ-परायण द्विज को कर्म-संन्यासी जानना चाहिए। इनमें ज्ञान-संन्यासी सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इनका कोई कर्तव्य या लिंग (चिह्न) नहीं होता।

ममतारहित निर्भय ध्यानपरायण संन्यासी ग्राम से अन्न माँगे एवं अध्यात्मसंबन्धी विचार करे। उसे काल की प्रतीक्षा उसी प्रकार करनी चाहिए, जैसे नौकर स्वामी की आज्ञा की प्रतीक्षा करता है। ऐसा यति ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। संन्यासी को राग और द्वेष से शून्य, प्राणियों की हिंसा से दूर, सभी से स्नेह रखने वाला और मौन व्रतधारी होना चाहिए। वह नित्य अलग-अलग व्यक्तियों के घर से भिक्षा प्राप्त कर जीवन-निर्वाह करे। संन्यासी को सत्य से शुद्ध वाणी और मन से शुद्ध आचरण वाला, हाथ में कमण्डलु लिए, पवित्र आत्मविद्या एवं नित्य ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला होना चाहिए। मोक्ष-परायण, जितेन्द्रिय, अहंकार से शून्य, आत्मज्ञानी संन्यासी मोक्ष को प्राप्त करता है। स्नान के उपरान्त आचमन कर पवित्रतापूर्वक देवालय आदि में प्रणव नामक सनातन वेदमन्त्र का अभ्यास करना चाहिए। हाथ में कुशा, काषाय वस्त्र तथा शरीर पर भस्म लगाना संन्यासी का धर्म है। वह निरन्तर वेदान्त-प्रतिपादित अधियज्ञ के साथ आधिदैविक और आध्यात्मिक ब्रह्म-मन्त्रों का जप करे। ऐसा करने वाला संन्यासी परम गति को प्राप्त करता है।

इस प्रकार २८वें अध्याय में संन्यासी के धर्मों को बताने के बाद २९वें अध्याय में इसके लिए भिक्षा-याचन का महत्त्व बताते हुए कहा है कि भिक्षा द्वारा जीवन-निर्वाह करना, सात घरों से ही भिक्षा माँगना, नित्य नवीन पात्र में भोजन करना "प्राणाय स्वाहा" आदि मन्त्रों से पाँच प्राणाहुति देने के उपरान्त एकाग्रता-पूर्वक भोजन कर ब्रह्मदेव का ध्यान करते हुए ईश्वर का चिन्तन करना यति का धर्म है।

रात्रि के प्रथम और अन्तिम भाग में, मध्य रात्रि एवं संध्याओं में संन्यासी विशेष रूप से नित्य ईश्वर का चिन्तन करे। हृदय-कमल रूपी आश्रय में विश्व नामक संसार के उत्पादक, सभी भूतों के आत्म-स्वरूप, तमोगुण के पारगामी, प्रधान और पुरुष का अतिक्रमण करने वाले, शिव एवं ब्रह्म रूपी, आदि और अन्त से रहित, सत्य शाश्वत महेश का ध्यान करना, जगत् के सम्मोहन-स्थल मूल प्रकृति रूपी गुफा में परम व्योम स्वरूप, सभी भूतों के एकमात्र कारण सत्य

एवं ईशान स्वरूप ब्रह्म का संयम के साथ चिन्तन करना संन्यासी का गुह्य से भी गुह्य ज्ञान है, जिसके कारण उसे बन्धन से मुक्ति मिलती है। सभी प्राणियों की जिससे उत्पत्ति होती है, जिसे प्राप्त करने के उपरान्त फिर कभी जन्म नहीं होता, उस परम तत्त्व से भी उत्कृष्ट जिसका स्थान है, वही देव ईश्वर है।

संन्यासियों के व्रत में विघ्न उपस्थित होने पर प्रायश्चितों का विधान भी यहाँ वर्णित है।

सबका आधार-स्वरूप अद्वितीय परम तत्त्व ही ब्रह्म है। जो सभी के भीतर स्थित है, उसे ही महेश्वर जानना चाहिए। ये देव ज्ञानसंज्ञक एवं आत्म-योग नामक तत्त्वस्वरूप अपने तेज से पूजित होते हैं। जो महादेव से भिन्न अन्य देवता को नहीं जानता एवं उसी महादेव-स्वरूप आत्मा को अपनी आत्मा मानता है, वह परम पद प्राप्त करता है।

अद्वितीय परम ब्रह्म ही शाश्वत ज्ञेय ब्रह्म-तत्त्व है। वही देवदेव महादेव है। उन्हीं को जान कर मनुष्य पुनः बन्धन को प्राप्त नहीं होता। अतः संन्यासी को संयतचित्त से ज्ञानयोगरत होकर महादेव को जानने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस प्रकार यहाँ कूर्मपुराण के उपरि विभागों के १२ से २९ तक के अध्यायों में संगृहित व्यास गीता के आधार पर चारों आश्रमों के कर्तव्यों का विशद विवेचन किया गया है। मनुस्मृति के २-६ अध्यायों और धर्मशास्त्र के इतिहास के प्रथम भाग (पृ० २६४-५०७) में भी इन आश्रमों का अतिविस्तार से परिचय दिया गया। इन दोनों ग्रन्थों में विद्यमान प्रारम्भ के तीन आश्रमों से संबद्ध सामग्री का संक्षिप्त परिचय तत्तत् प्रकरण में दिया जा चुका है।

मनुस्मृति के छठे अध्याय के ३३वें श्लोक से संन्यासाश्रम से संबद्ध विषय संपूर्ण अध्याय में देखे जा सकते हैं। इस अध्याय में कुल ९७ श्लोक हैं। क्रमशः एक आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रवेश को ही यहाँ मान्यता दी गई है और यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि मोक्ष को चाहने वाला व्यक्ति तीन ऋणों को चुका देने के उपरान्त ही संन्यासाश्रम में प्रवेश करे। प्रव्रज्या और उसके नियमों का प्राणायाम आदि योगांगों का और ध्यान योग का निरूपण करने के उपरान्त अपने सुकृत एवं दुष्कृत को प्रिय और अप्रिय जनों में संक्रान्त कर देने का विधान है। तन्त्रागमशास्त्र में भी कर्मसाम्य के प्रसंग में यही बात कही गई है। अध्याय के अन्त के कुछ श्लोकों में कर्मयोग का निरूपण मिलता है। मनुस्मृति के इस कथन से भी कर्मयोग की महत्ता स्पष्ट होती है।

धर्मशास्त्र का इतिहास (भा० १, पृ० ४९०-५०७) में भी संन्यास-धर्म, संन्यासियों के प्रकार, संन्यास तथा वर्ण, संन्यास एवं शूद्र, संन्यास एवं नारियाँ संन्यास तथा शूद्र एवं नारी की योग्यता, संन्यास तथा अपेय पदार्थ, संन्यास एवं

नियमभ्रष्टता, संन्यासी तथा मठ एवं उनके झगड़े, उत्तरकालीन संन्यासी, संन्यासी एवं उनके दाय-संबन्धी अधिकार, संन्यास की विधि, आतुर-संन्यास, संन्यास के कुछ विशिष्ट नियम, संन्यासी एवं परिषद् जैसे आधुनिक काल के लिए उपयोगी विषयों पर भी यहाँ विचार किया गया है। इस प्रसंग में यह अवधेय है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में उपनयन के प्रकरण (पृ० २०८-२६१) में ब्रह्मचर्याश्रम और विवाह के प्रकरण (पृ० २६८-३५४) में गृहस्थाश्रम के धर्मों का निरूपण हुआ है।

चारों ही आश्रमों में स्थित व्यक्तियों के द्वारा नियमों का उल्लंघन होने पर नाना प्रकार के प्रायश्चित्तों का तथा तीर्थयात्रा का भी विधान है। तीर्थयात्रा में त्रिस्थली के नाम से प्रसिद्ध—काशी, प्रयाग और गया का विशेष महत्त्व है। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में और कूर्मपुराण में भी यह विषय वर्णित है। विस्तार के भय से हम यहाँ उनकी चर्चा नहीं कर रहे हैं। इसी के साथ वर्णाश्रम व्यवस्था का यह प्रकरण पूरा हो रहा है। आगे तृतीय परिच्छेद में पुरुषार्थ-चतुष्टय का परिचय दिया जायेगा।



तृतीय परिच्छेद

पुरुषार्थ-चतुष्टय

वर्णाश्रम व्यवस्था नामक द्वितीय परिच्छेद में चार वर्णों और चार आश्रमों का तथा उनके धर्मों का परिचय दिया जा चुका है। इन चार वर्णों और चार आश्रमों के समान चार पुरुषार्थ भी भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के मूल आधार हैं। वर्णाश्रम धर्मों का निरूपण प्रधानतः धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में और पुराणों में ही मिलता है, किन्तु पुरुषार्थों का स्वरूप प्रायः सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में, विशेषकर दार्शनिक साहित्य में उपलब्ध होता है। हम यह भी कह सकते हैं कि धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में धर्म का, अर्थशास्त्र में अर्थ का, कामशास्त्र में काम का और दर्शनशास्त्र के ग्रन्थों में मोक्ष का प्रधान रूप से प्रतिपादन हुआ है।

पुरुषार्थ शब्द पुरुष और अर्थ शब्द को जोड़कर बनाया गया है। इसका तात्पर्य है—पुरुष अर्थात् व्यक्ति का, अर्थ यानी प्रयोजन लक्ष्य। महान् भारतीय मनीषियों ने मनुष्य के जीवन के चार लक्ष्य निर्धारित किये हैं। उनके नाम हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ये ही पुरुषार्थ-चतुष्टय के नाम से भारतीय शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। इनमें से धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका विधान सामान्यजन के जीवन को सुव्यवस्थित करने तथा समाज को सुस्थिर करने के लिए हुआ है। मोक्ष अन्तिम लक्ष्य है। धर्म से नियन्त्रित अर्थ और काम का सेवन करने वाला, निष्काम कर्मयोगी अथवा अध्यात्म ज्ञान से सम्पन्न महात्मा ही इसका अधिकारी बन सकता है।

त्रिवर्ग की सिद्धि का नाम है—अभ्युदय और चौथे पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि का नाम निःश्रेयस है। संसार में मनुष्य का अभितः उदय, सब ओर से उदय होना, अर्थात् सब तरह की उन्नति को प्राप्त करना **अभ्युदय** कहलाता है। इसी तरह से जिससे बढ़कर कोई भी श्रेयान् (श्रेष्ठतम) फल न हो, उसकी प्राप्ति को **निःश्रेयस** अर्थात् मोक्ष कहते हैं।

त्रिवर्ग में वैषयिक सुखोपभोग को **काम** कहते हैं। काम-सुख उपेय है, अर्थात् साध्य है। इसके साधन हैं—धर्म और अर्थ। इस तरह से साध्य और साधन के रूप में इन तीनों पुरुषार्थों का अर्थात् धर्म, अर्थ और काम का

सामूहिक नाम **त्रिवर्ग** है। इस त्रिवर्ग के साथ चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष को मिला देने से **चतुर्वर्ग** बन जाता है—

''त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः।
सबलैस्तैश्चतुर्भद्रम्'' (२.७.५७-५८)

अमरकोश के इस वचन में त्रिवर्ग और चतुर्वर्ग (पुरुषार्थ-चतुष्टय) का उल्लेख कर इनकी समृद्धि को **चतुर्भद्र** नाम दिया गया है। ये चारों पुरुषार्थ मनुष्य जीवन के सर्वोत्तम उद्देश्य हैं। इनमें से कोई मनुष्य अर्थ को चाहता है, कोई काम-सुख को और अन्य इन दोनों के मूल धर्म को चाहता है। कुछ लोग धर्म, अर्थ और काम नामक त्रिवर्ग को समान रूप से चाहते हैं। सामान्य रूप से सर्वत्र इसी पक्ष को मान्यता मिली है। त्रिवर्ग का विधिवत् उपार्जन कर लेने पर मानव (पुरुष) अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है। तब वह चतुर्भद्र से सम्पन्न हो जाता है, उसको सर्वत्र सदा सनातन सुख का साक्षात्कार होता रहता है। मानव जीवन का यही तो चरम लक्ष्य है।

समभाव से सेवित धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों ही पुरुषार्थ वस्तुतः निर्मल और निर्दोष हैं, अतः इनके सम्यक् अनुष्ठान से चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष अनायास ही सिद्ध हो जाता है, किन्तु इनका उपार्जन करने वाले मनुष्य के सदोष होने पर ये भी दूषित हो जाते हैं, जैसा कि महाभारत के शान्तिपर्व में वर्णित है—

अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगूहनम्।
सम्प्रमोहमलः कामो भूयस्तद्गुणवर्धितः॥ (१२३.१०)

धर्म में फल की अभिलाषा, अर्थात् सकामता, अर्थ में निगूहन, अर्थात् उसे दान और भोग में व्यय न करना तथा काम में संप्रमोह, अर्थात् उसमें उत्कट मोह उत्पन्न हो जाना—ये तीन, तीनों के मल माने गये हैं।

इनके निवारण के लिए सूक्ष्मदर्शी पुरुष धर्म का अनुष्ठान सकाम भाव से न कर निष्काम-भावना से करते हैं। अर्थ का उपार्जन त्याग के लिए करते हैं और काम का सेवन शरीर के स्वास्थ्य के लिए करते हैं। स्वस्थ शरीर से ही व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम के सेवन में समर्थ होता है। इस तरह निर्मल निर्दोष त्रिवर्ग के सेवन से चतुर्थ पुरुषार्थ भगवत्प्राप्ति रूप मोक्ष अनायास ही सिद्ध हो जाता है। सबसे उत्कृष्ट अक्षय पुरुषार्थ मोक्ष है। इसी लिए इसे परम पुरुषार्थ भी कहा जाता है।

धर्म, अर्थ और काम—यह त्रिवर्ग उपाय (साधन) है और चतुर्थ पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष उपेय (साध्य) है। उपाय का यथावत् अनुष्ठान होने से उपेय स्वयं

ही प्राप्त हो जाता है। अत: त्रिवर्ग का अनुष्ठान यदि उचित रीति से हो, तो फिर मोक्ष तो अपने आप ही सिद्ध हो जायेगा। इस तरह से मानव-जीवन का साफल्य त्रिवर्ग की प्राप्ति में है, अतः प्रत्येक गृहस्थ को धर्म, अर्थ और काम का यथाविधि सेवन करने का प्रयत्न करना चाहिए। त्रिवर्ग के सिद्ध हो जाने पर गृहस्थ को इस लोक और परलोक के अभ्युदय की प्राप्ति होती है।

त्रिवर्ग में किसी एक का अनुष्ठान इतनी अधिक मात्रा में नहीं होना चाहिए कि जिससे इन तीनों में परस्पर बाधा पहुँचे। काम का भी सेवन इस प्रकार से करना चाहिए कि उससे धर्म तथा अर्थ में बाधा न आवे और विषय-सुख का परित्याग कर बिलकुल सुखहीन होना भी उचित नहीं है। इसी बात को कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस तरह से कहा गया है—''धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत, न निःसुखः स्यात्'' (१.७.६-७)। अन्य आचार्य का यह वचन भी इसकी पुष्टि करता है—

''धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकसक्तः स जनो जघन्यः''।

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम युवराज भरत का चित्रकूट पर मिलन के समय कुशल-प्रश्न के व्याज से त्रिवर्ग के सम-सेवन पर ध्यान आकृष्ट करते हैं। वाल्मीकिरामायण (अयो० १००.६२-६३) में इसे देखा जा सकता है। महाभारत (शान्ति० ९१.५३) में त्रिवर्ग में धर्म को अधिक महत्त्व दिया गया है। वह इसलिए कि धार्मिक पुरुष ही अर्थ और काम पर नियन्त्रण स्थापित करने में समर्थ हो सकता है—

धर्मे चार्थे च कामे च धर्म एवोत्तरो भवेत्।
अस्मिन् लोके परे चैव धर्मात्मा सुखमेधते॥

इसीलिए मनु ने स्पष्ट आदेश दिया है कि मनुष्य को ऐसे अर्थ और काम का परित्याग कर देना चाहिए, जो धर्म के विपरीत जाते हों—''परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ'' (४.१७६)। श्रुति का भी कहना है—''धर्मान्न प्रमदि-तव्यम्'' (तैत्ति० उ० १.११.१)।

धर्म, अर्थ और काम नामक त्रिवर्ग और चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष की सामान्य रूप से यहाँ चर्चा की गई है। इन चारों पुरुषार्थों की पृथक्-पृथक् विशेष विवेचना करने से पहले हम सामान्य रूप से धर्मशास्त्र, पुराण एवं इतिहास ग्रन्थों की, कौटिल्य के अर्थशास्त्र की और वात्स्यायन के कामशास्त्र की क्या दृष्टि है, इसको क्रमशः बताना चाहते हैं।

धर्मशास्त्र की दृष्टि

मनुस्मृति में त्रिवर्ग का विशेष रूप से तथा मोक्ष का सामान्य रूप से विवेचन मिलता है। यहाँ द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में ही बताया गया है कि राग

और द्वेष से रहित धार्मिक विद्वानों ने जिसका सदा सेवन किया और हृदय से जिसका अनुमोदन किया, वही धर्म है। सम्पूर्ण वेद, वेद के जानने वाले मनु आदि की स्मृतियाँ एवं १३ प्रकार के शील, उनके द्वारा पालित सदाचार तथा विकल्प का विधान होने पर अपनी रुचि के विकल्प को स्वीकार करना—ये चार धर्म के आधार हैं। श्रुति और स्मृति के द्वारा उपदिष्ट धर्म का अनुसरण करने वाला मनुष्य इस संसार में कीर्ति को और परलोक में अनुत्तम सुख को प्राप्त करता है। श्रुति वेद को और स्मृति धर्मशास्त्र को कहा जाता है। इनकी शुष्क तर्क के सहारे मीमांसा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि धर्म की उत्पत्ति इन्हीं से होती है। जैसा कि यहाँ छठे श्लोक में बताया गया है—वेद, स्मृति, सदाचार और वैकल्पिक स्थिति में अपनी रुचि—ये ही चार धर्म के साक्षात् लक्षण हैं।

फल की कामना अच्छी नहीं मानी जाती और इस संसार में कोई कामना से रहित व्यक्ति है भी नहीं। वेदों का अध्ययन और वैदिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान भी एक प्रकार की कामना ही है। काम की उत्पत्ति संकल्प से होती है। यज्ञ की उत्पत्ति भी संकल्पमूलक ही है। व्रत और यम-नियम भी संकल्प से ही उत्पन्न हुए हैं। इस संसार में बिना कामना के कोई मनुष्य किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। मनुष्य जो कुछ भी करता है, वह सब काम (इच्छा) का ही खेल है। इनमें से शास्त्रोक्त कर्मों का यथाविधि आचरण करने वाला मनुष्य अमरलोक को प्राप्त करता है और इस लोक में सभी संकल्पित कामनाओं को प्राप्त करता है। यहाँ आगे (२.९४) बताया गया है कि कामना (इच्छा) विषयों के उपभोग से कभी शान्त नहीं होती। वह तो घृत में दी गई आहुति से अग्नि के समान बार-बार बढ़ती ही जाती है।

अर्थ और काम में जो व्यक्ति आसक्त नहीं है, उसी को धर्म का ज्ञान कराया जाता है। धर्म की जिज्ञासा करने वाले व्यक्ति के लिए श्रुति ही परम प्रमाण है। जहाँ दो प्रकार की श्रुतियाँ उपलब्ध हों, उन दोनों को प्रमाण माना जाता है, क्योंकि विद्वानों ने इन दोनों पक्षों को स्वीकार किया है। दर्श-पूर्णमास आदि का अनुष्ठान कब करना चाहिए, इस विषय में शास्त्रों में तीन पक्ष मिलते हैं-- सूर्योदय हो जाने पर, सूर्योदय से पहले तथा कभी विलम्ब हो जाने पर भी। किसी भी व्यक्ति को प्रथम दो पक्षों में से एक को अपनी इच्छा से स्वीकार कर यावज्जीवन उसी पक्ष का अनुष्ठान करना चाहिए। कभी कालात्यय हो जाने पर भी अनुष्ठान को छोड़ा नहीं जाता।

यद्यपि मनुस्मृति में अर्थ की स्वतन्त्र रूप से चर्चा नहीं मिलती, तो भी चारों वर्णों की वृत्ति (जीविका) के प्रसंग में इसकी चर्चा हुई है और उसका

परिचय वर्ण-धर्म के प्रसंग में दिया जा चुका है (पृ० ७-९)। अतः उसकी पुनः चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। त्रिवर्ग-संबन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण उक्तियाँ यहाँ इतस्ततः बिखरी हुई हैं। उनको हम इकट्ठा कर यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

विद्यादान के प्रसंग (२.११२) में यहाँ बताया गया है कि धर्म, अर्थ अथवा शुश्रूषा के अभाव में आचार्य को विद्याध्ययन नहीं कराना चाहिये। अन्यत्र (२.२२४) त्रिवर्ग संबन्धी मतों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि कुछ आचार्य धर्म और अर्थ को कल्याणकारी मानते हैं। अन्य आचार्य काम और अर्थ को अथवा केवल धर्म को और केवल अर्थ को कल्याणकारी कहते हैं। स्पष्ट है कि त्रिवर्ग के रूप में यहाँ धर्म, अर्थ और काम की, धर्म और अर्थ की, काम और अर्थ की, केवल धर्म अथवा केवल अर्थ की स्थिति भी मान्य है, किन्तु केवल काम को मान्यता कहीं भी नहीं दी गई है। कामसूत्र (१.२.१४) में भी इसको तीसरा स्थान दिया गया है, जबकि अर्थशास्त्र (१.७.१०) में अर्थ को प्रथम।

चौथे अध्याय के प्रारम्भ में विस्तार से वृत्ति (अर्थ) की चिन्ता की गई है और तब (४.९२) बताया है कि ब्राह्म मुहूर्त में उठकर गृहस्थ को धर्म और अर्थ की चिन्ता करनी चाहिए। इसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए वहाँ (४.१७६) बताया गया है कि धर्म से रहित अर्थ और काम का त्याग कर देना चाहिए। उस धर्म का भी त्याग कर देना चाहए जो भविष्य के लिए सुखकारी नहीं है और जो लोक में निन्दित है।

वर्णाश्रम धर्म के निरूपण के बाद मनुस्मृति (६.९१-९४) में सामान्य रूप से पूरी मानव जाति के लिए पालनीय दश लक्षण वाले धर्म का निरूपण किया गया है। नैतिकता के रूप में इसे आधुनिक काल में मान्यता मिली हुई है। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये ही धर्म धर्म के दस लक्षण हैं। धर्म के इन दस लक्षणों का जो व्यक्ति सम्यक् अध्ययन करता है और उनका अनुसरण भी करता है, वह परम गति को प्राप्त करता है। पूरी सावधानी के साथ दस लक्षण वाले धर्म का अनुसरण करने वाला व्यक्ति संन्यास ग्रहण कर वेदान्तशास्त्र का अध्ययन-मनन करे। ऐसा करने से उसके लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

इसी तरह आगे (१०.६३) मनु ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय-निग्रह के रूप में चारों वर्णों के लिए धर्म की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत की है। इनके अनुपालन से भी मानव मोक्षमार्ग की ओर अग्रेसर होता है। अन्तिम अध्याय (१२.८३) में वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रिय-संयम, अहिंसा और

गुरुसेवा—इन छः निःश्रेयस के उपायों का वर्णन कर प्रवृत्ति लक्षण एवं निवृत्ति लक्षण धर्म का स्वरूप एवं फल प्रदर्शित है। आगे (१२.१०४) बताया गया है कि तप और विद्या की सहायता से मनुष्य मुक्त हो जाता है। तप की सहायता से उसके सारे दुष्कृत दूर हो जाते हैं और विद्या (आत्मज्ञान) के सहारे वह मुक्ति को प्राप्त करता है—"विद्ययाऽमृतमश्नुते" (ईशावास्यो. ११)।

अन्त में पूरे शास्त्र के निष्कर्ष के रूप में तर्क को प्रस्तुत किया गया है (१२.१०५-१०६)। जो विद्वान् प्रत्यक्ष, अनुमान और नाना आगमों में विभक्त शास्त्र, अर्थात् शब्द—इन त्रिविध प्रमाणों को स्वीकार कर इनकी सहायता से धर्म के सुविशुद्ध स्वरूप को जानना चाहता है, उसे तर्क का सहारा लेना चाहिए। यह तर्क शास्त्रानुवर्ती होना चाहिए, शास्त्र का विरोधी नहीं। यास्क मुनि ने निरुक्त (१३.१२) में बताया है कि ऋषि-परम्परा के लुप्त हो जाने पर देवताओं ने मनुष्यों को तर्क-शक्ति प्रदान की। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के ग्रन्थों में षडंगयोग का प्रतिपादन करते समय तर्क को वरीयता दी गई है। वहाँ भी शास्त्रानुवर्ती तर्क को ही मान्यता दी गई है। तर्क को वहीं अप्रतिष्ठित माना गया है, जहाँ यह वेदागम शास्त्रों के विपरीत जाता हो।

पुराणों की दृष्टि

पुराणों का भी कहना है कि चार वर्णों और चार आश्रमों के समान चार पुरुषार्थ भी भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के मूल आधार हैं। महान् भारतीय मनीषियों ने जिन चार पुरुषार्थों का प्रतिपादन किया है, ये मानव जीवन के अस्तित्व के चार लक्ष्य माने गये हैं। उनमें सर्वोत्तम लक्ष्य है मोक्ष, जिसे कई नामों से पुकारा जाता है। भिन्न-भिन्न दर्शनों में इसके भिन्न-भिन्न नाम हैं और तदनुरूप ही इसके स्वरूप में भी भिन्नता आ जाती है, तो भी सभी प्रकार के सांसारिक बन्धनों से मुक्ति को ही सामान्य रूप से हम मोक्ष कह सकते हैं। मुक्ति कैवल्य, निःश्रेयस, अपवर्ग, अमृतत्व, निर्वाण जैसे शब्द इसके पर्याय हैं। मोक्ष-प्राप्ति के उपाय के रूप में पुराणों में कर्म, योग, ज्ञान और भक्ति का वर्णन मिलता है। कुछ पुराणों में ज्ञान और कर्म के समुच्चय को वरीयता दी गई है।

पुरुषार्थ चतुष्टय के प्रसंग में अर्थ और काम के सन्दर्भ में कूर्मपुराण (१.२.५१-६२) का कहना है कि उस अर्थ और काम का परित्याग करना चाहिए, जो धर्मविहीन हो। लोकविरुद्ध धर्म का आचरण भी नहीं करना चाहिए। धर्म से अर्थ और काम की सिद्धि होती है। अपवर्ग (मोक्ष) के लिए धर्म जरूरी है, अतः धर्म का आश्रय अवश्य ग्रहण करना चाहिए। कूर्मपुराण के उपरि विभाग

में स्थित ईश्वरगीता (१-११ अ०) में ज्ञान का और व्यासगीता (१३-३३ अ०) में कर्म (धर्म) का विवेचन किया गया है। अपवर्ग (मोक्ष) के लिए धर्म जरूरी है, अतः धर्म का आश्रय अवश्य ग्रहण करना चाहिए।

यहाँ धर्म, अर्थ और काम रूपी त्रिवर्ग को क्रमशः सत्त्व, रज और तम रूपी त्रिगुण से युक्त माना गया है। अतः उत्तम पुरुष को धर्म का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। धर्मयुक्त अर्थ और काम में व्यवस्थित व्यक्ति इस लोक में सुखी रह कर मरणोपरान्त मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ होता है। धर्म से मोक्ष एवं अर्थ से काम की सिद्धि होती है। इस तरह से इन चार पुरुषार्थों में परस्पर अनुस्यूतता रहनी चाहिए। धर्म सम्पूर्ण स्थावर-जंगमात्मक जगत् को धारण करता है। यह ब्रह्म की वह शक्ति है, जिस का कोई आदि और अन्त नहीं है। धर्म से भक्ति एवं भक्ति से परमतत्त्व की प्राप्ति होती है।

कूर्मपुराण के उपरि विभाग (२.२५.२०-३१) में भी धर्म, अर्थ, काम और कल्याणकारी मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों को बताया गया है। ब्राह्मणों का काम नामक पुरुषार्थ धर्म का विरोधी नहीं होना चाहिए। अर्थ का उपयोग धर्म के लिए होना चाहिए। इससे भिन्न अर्थ अनर्थ का कारण होता है, अतः अर्थ प्राप्त होने पर व्यक्ति को दान, हवन और यज्ञ आदि के द्वारा इष्ट और पूर्त धर्मों का अनुष्ठान करना चाहिएं।

निःसन्देह कर्म एवं ज्ञान के द्वारा धर्म की प्राप्ति होती है, अतः ज्ञान के साथ कर्मयोग का भी आचरण करना चाहिए। वैदिक कर्म प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के भेद से दो प्रकार का होता है। निवृत्ति कर्म में ज्ञान की एवं प्रवृत्ति कर्म में कर्मों की प्रधानता रहती है। प्रवृत्त एवं निवृत्त नामक द्विविध वैदिक कर्मों का निरूपण मनुस्मृति (१२.८८-९०) में भी मिलता है। वहाँ बताया गया है कि निवृत्त कर्मों का सेवन करने वाला मोक्ष को प्राप्त करता है।

इतिहास की दृष्टि

भारतरत्न डॉ० पी०वी० काणे ने धर्मशास्त्र से संबद्ध अपने बृहद् ग्रन्थ के प्रथम भाग (पृ० १०४-१०५) में अतिसंक्षेप में चार पुरुषार्थों का परिचय दिया है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि इनमें अन्तिम मोक्ष परम लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति जिस किसी को ही हो पाती है, अधिकांश के लिए वह केवल आदर्शमात्र है। काम सबसे भिन्न श्रेणी का पुरुषार्थ है, इसे केवल पृथग्जन ही सर्वोत्तम पुरुषार्थ मानते हैं।

महाभारत (उद्योग० १२४. ३४-३८ एवं शान्ति०, १६७. ८-९) में आया है कि एक समझदार व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों पुरुषार्थों को प्राप्त

करता है, किन्तु यदि तीनों की प्राप्ति न हो सके, तो वह धर्म और अर्थ को प्राप्त करता है, किन्तु यदि उसे केवल एक को ही चुनना है, तो वह धर्म का ही चुनाव करे। धर्मशास्त्रकारों ने काम की सर्वथा भर्त्सना नहीं की है, वे उसे मानव की क्रियाशील प्रेरणा के रूप में ग्रहण करते हैं, किन्तु उसे अन्य पुरुषार्थों से निम्न कोटि का ठहराते हैं। गौतम (९.४६-४७) ने धर्म को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है। याज्ञवल्क्य (१.११५) में भी यही बात कही गई है। आपस्तम्ब (२.८.२०.२२-२३) में कहा है कि धर्म के विरोध में न जाने वाले सभी काम-सुखों का भोग करना चाहिए। इस प्रकार उसे दोनों लोक मिल जाते हैं। भगवद्गीता (७.११) में कृष्ण अपने को धर्माविरुद्ध काम बताते हैं।

कौटिल्य का कहना है कि धर्म और अर्थ के अविरोध में काम का सेवन करना चाहिए, बिना आनन्द का जीवन नहीं बिताना चाहिए। अपनी मान्यता के अनुसार कौटिल्य ने अर्थ को ही प्रधानता दी है, क्योंकि अर्थ से ही धर्म एवं काम की सिद्धि होती है। इस विषय की चर्चा हम आगे (पृ० ८४) विस्तार से करेंगे। मनुस्मृति (२.२२४), विष्णुधर्मसूत्र (७१.८४) एवं भागवत (१.२.९) ने धर्म को ही प्रधानता दी है। धर्मशास्त्रकारों ने इस प्रकार सामान्य एवं परम लक्ष्यों और प्रेरणाओं की ओर संकेत किया है और अन्त में परम लक्ष्यों और प्रेरणाओं को ही श्रेष्ठतम माना है। उनके अनुसार उच्चतर जीवन के लिए तन और मन दोनों का अनुशासित होना परम आवश्यक है, अत: निम्नतर लक्ष्यों का उच्चतर गुणों और मूल्यों के आश्रित रहना उचित है। मनु ने अरस्तू के समान ही सभी क्रियाओं के पीछे कोई अनुमानित या पूर्वकल्पित शुभ या कल्याणप्रद तत्त्व मान लिया है। उन्होंने कहा है कि प्रत्येक जीव वासनाओं की ओर झुकता है, अत: उन पर बल देने के स्थान पर उनके निग्रह पर बल देना चाहिए (मनु० ५.५६)। उपनिषदों ने भी हित एवं हिततम के अन्तर को स्वीकार किया है।

अर्थशास्त्र की दृष्टि

कौटिल्य के अर्थशास्त्र की अभी चर्चा आई है। प्रथम अधिकरण के सातवें अध्याय में वहाँ यह विषय आया है। बिना आनन्द का जीवन बिताना उचित नहीं है, ऐसा मान कर वहाँ काम के सेवन की इस रूप में अनुमति दी गई है कि वह धर्म और अर्थ का विरोधी नहीं होना चाहिए (१.७.६-७)। अगले दो सूत्रों में इस विषय को अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है कि त्रिवर्ग का सेवन समान रूप से इस तरह से करना चाहिए कि इनमें परस्पर अनुस्यूतता हो, किसी प्रकार का विरोध न हो। धर्म, अर्थ और काम नामक त्रिवर्ग में से किसी एक का अधिक सेवन करने से वह स्वयं अपने को ही नहीं, बचे दोनों वर्गों को भी पीड़ा

पहुँचाता है। कौटिल्य आगे अर्थ की प्रधानता को स्थापित करते हुए कहते हैं कि धर्म और काम का सेवन अर्थ की सहायता से ही किया जा सकता है। सातवें अध्याय के ६-११ सूत्रों में राजा के व्यवहार के प्रसंग में त्रिवर्ग-संबन्धी ये विचार अनुस्यूत हैं।

इससे पहले के छठे अध्याय में भी भारतीय दर्शनों में अरि षड्वर्ग के रूप में वर्णित काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष नामक षड्विध हानिकर भावों के परित्याग की राजा को सलाह दी गई है। काम, क्रोध आदि के वशीभूत राजाओं के पतन की यहाँ चर्चा हुई है। काम के प्रसंग में वात्स्यायन के कामसूत्र (१.२.४४) में चर्चित दाण्डक्य भोज यहाँ (१.६.६) भी उल्लिखित है। हमें ऐसा लगता है कि अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और न्यायशास्त्र की दृष्टि में बहुत कुछ समानता है।

अर्थशास्त्र में वर्णाश्रम धर्मों और कुछ संस्कारों की भी चर्चा मिलती है। उन्हें हम यहीं प्रस्तुत कर दे रहे हैं। तीसरे अध्याय में साम, ऋक् और यजुर्वेद की त्रयी के रूप में चर्चा कर अथर्ववेद और इतिहासवेद का भी परिगणन करते हुए शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दोविचिति और ज्योतिष नामक छ: अंगों का उल्लेख किया गया है और बताया गया है कि यह त्रयी धर्म चार वर्णों और चार आश्रमों को अपने-अपने धर्म में स्थित रखने के कारण लोक का अत्यन्त उपकारक है।

ब्राह्मण का अपना धर्म अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान देना और लेना है। क्षत्रिय का धर्म अध्ययन, यजन और दान के अतिरिक्त शस्त्रों से जीवन का निर्वाह करना और प्राणियों की रक्षा करना है। वैश्य का धर्म अध्ययन, यजन और दान के अतिरिक्त कृषिकार्य, पशुओं की रक्षा करना एवं व्यापार है। शूद्र का धर्म द्विजाति की सेवा करना, वार्ता अर्थात् लोकयात्रा का निर्वाह—खेती-पशुपालन-व्यापार-वाणिज्य आदि नाना प्रकार के शिल्प एवं गायन-वादन के साथ चारणों का आचरण है।

गृहस्थ का अपना धर्म अपने वर्ण के अनुकूल कार्यों से जीविका चलाना, अपने कुल आदि से समान और भिन्न गोत्र वालों के साथ विवाह संबन्ध स्थापित करना, ऋजुगामी होना, देवगण-पितृगण-अतिथिगण और भृत्यों का भोजन आदि से सत्कार कर तदुपरान्त स्वयं भोजन करना है। ब्रह्मचारी का धर्म वेदाध्ययन, अग्निसेवा, नित्य स्नान करना और भिक्षाचर्या है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी को जीवन पर्यन्त गुरु के समीप रहना, गुरु के न रहने पर गुरुपुत्र अथवा अपने किसी समान शाखाध्यायी के समीप रहना चाहिए। वानप्रस्थ का धर्म ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना, भूमि पर शयन करना, जटा तथा मृगचर्म आदि का धारण करना, प्रतिदिन

अग्नि-सेवा करना, नित्य स्नान करना, देवगण-पितृगण-अतिथिगण की पूजा करना और वन में पैदा होने वाले कन्द-मूल, फल आदि का आहार करना है। इसी तरह से संन्यासी का धर्म जितेन्द्रिय होना, फल की इच्छा न रखना, किसी वस्तु पर अपना अधिकार न रखना, सब तरह की आसक्ति का त्याग, भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन, वन में नाना स्थलों पर निवास तथा बाह्य और आन्तर शौच, अर्थात् शरीर, वाणी और मन को शुद्ध रखना है।

हम देखते हैं कि यहाँ अतिसंक्षेप में वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों का निरूपण हुआ है। मनुस्मृति जैसे धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में इनका इसी रूप में वर्णन हुआ है। आश्रमों का निरूपण करते समय गृहस्थाश्रम को यहाँ पहला स्थान दिया गया है। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं यह क्रम देखने को मिलता है। वहाँ बताया गया है कि अन्य तीनों आश्रम गृहस्थाश्रम पर ही निर्भर हैं। इस स्थिति की ओर इंगित करने के लिए ही गृहस्थाश्रम को प्राथमिकता दी गई है। इस विषय की चर्चा पहले आ चुकी है।

संस्कारों का यहाँ कोई व्यवस्थित विवरण देखने को नहीं मिलता। राजपुत्रों के विद्याभ्यास के प्रसंग में इसी अधिकरण के पाँचवें अध्याय में चौल कर्म आदि की सूचना मिलती है। वहाँ बताया गया है कि चौल कर्म (मुण्डन संस्कार) के उपरान्त लिपि का तथा गिनती का अभ्यास करावे। उपनयन संस्कार के अनन्तर बटुक को सदाचारी विद्वान् आचार्यों से त्रयी और आन्वीक्षिकी को तथा उन-उन विभागों के अध्यक्षों से वार्ता को, इसी प्रकार वक्ता और प्रयोक्ता, अर्थात् सन्धि-विग्रह आदि के यथार्थ जानकार और इनका उचित स्थानों पर प्रयोग करने वाले अनुभवी विद्वानों से दण्डनीति को सीखे। यह सोलह वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करे। इनके अनन्तर गोदान (समावर्तन एवं केशान्त) संस्कार एवं विवाह करे। यहाँ चौल, उपनयन, गोदान और दारकर्म (विवाह) नामक केवल चार संस्कारों की चर्चा है।

ऊपर इतिहास नामक पाँचवें वेद की चर्चा आई है। यहाँ (१.५.१४) पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का इसमें समावेश माना गया है। विद्यासमुद्देश नामक द्वितीय अध्याय में आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति नामक चार विद्याओं की चर्चा है। इस विषय में विभिन्न आचार्यों के मतों को प्रदर्शित कर कहा गया है कि कौटिल्य के मत से चारों विद्याएँ मान्य हैं। आन्वीक्षिकी में यहाँ सांख्य, योग और लोकायत मत परिगणित हैं (१.२.१०)। यहाँ यह अवधेय है कि परवर्ती काल में इस शब्द से न्यायविद्या का (न्यायभाष्य, पृ० ४) ग्रहण होने लगा।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में निरूपित इन विषयों की एक साथ चर्चा इसलिए कर दी है कि भारत के प्राचीन आचार्यों में इनकी गणना होती है और इनके स्थितिकाल और उस ग्रन्थ के रचनाकाल के विषय में किसी को कोई सन्देह नहीं है कि ये सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के महामात्य थे। भारतीय साहित्य में चाणक्य के नाम से ये प्रसिद्ध हैं। इनका समय ईसा-पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी माना जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के सभी विषय—संस्कार, वर्णाश्रम धर्म और पुरुषार्थ अर्थशास्त्र में बहुत ही संक्षेप में चर्चित है। भारतीय भावनाओं की निरन्तरता का इससे पता चलता है।

कामशास्त्र की दृष्टि

वात्स्यायन मुनि के कामसूत्र के प्रथम अधिकरण के त्रिवर्ग-प्रतिपत्ति शीर्षक द्वितीय अध्याय में इसके नाम के अनुरूप धर्म, अर्थ और काम नामक त्रिवर्ग का अच्छा विश्लेषण किया गया है। इस ग्रन्थ का आरम्भ ही धर्म, अर्थ और काम के नमन के साथ होता है—धर्मार्थकामेभ्यो नमः।

यहाँ बताया गया है कि पुरुष की आयु सौ वर्ष की होती है। इस आयु को तीन भागों में विभक्त कर वह त्रिवर्ग का इस प्रकार सेवन करे कि वे आपस में एक-दूसरे से जुड़े हों, विरोधी न हों। बचपन में विद्याध्ययन आदि के रूप में अर्थ की चिन्ता करे। युवावस्था में काम का और वृद्धावस्था में धर्म और मोक्ष का सेवन करना चाहिए। मनुष्य की आयु का कोई भरोसा नहीं है, ऐसी स्थिति में शास्त्रकार का कहना है कि यथासंभव जब जैसी सुविधा हो, तब इनका सेवन करना चाहिए।

इस ग्रन्थ की जयमंगला टीका के रचयिता यशोधर ने आयु के दो विकल्प दिये हैं। एक के अनुसार बाल्यावस्था १६ वर्ष तक की, मध्यावस्था ७० वर्ष तक की तथा इसके बाद का काल स्थविरावस्था कहलाता है। दूसरे मत के अनुसार सौ वर्ष को तीन भागों में विभक्त कर प्रत्येक की अवधि ३३ वर्ष चार मास बताई गई है। सामान्यतः १६ वर्ष की अवस्था में काम का उद्भव देखने को मिलता है। अतः अगले छठे सूत्र में व्यवस्था दी गई है कि विद्याग्रहण पर्यन्त प्रत्येक व्यक्ति को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। इस प्रकार प्रथम अवस्था में अर्थ का, द्वितीय में काम तथा तृतीय में धर्म एवं मोक्ष के सेवन का यहाँ विधान निर्दिष्ट है।

प्रथम अवस्था में किये गये विद्याध्ययन के आधार पर ही मनुष्य आगे अर्थ के अर्जन में समर्थ होता है। यौवन काल में वह काम का सेवन करता है। धर्म के प्रति रुचि वृद्धावस्था में ही जाग सकती है। इस अवस्था में धर्मार्जन के साथ

कुछ व्यक्ति मोक्ष के प्रति भी उन्मुख हो सकते हैं, अतः गौण रूप में यहाँ उसकी भी चर्चा आ गई है। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में धर्म की और अर्थशास्त्र के ग्रन्थों में अर्थ की तरह यहाँ काम की विस्तार से चर्चा मिलती है। काम को वरीयता यहाँ इस रूप में दी गई है कि इसके सेवन का लम्बा काल यहाँ प्रदर्शित है। यह अस्वाभाविक भी नहीं है। धर्म, अर्थ और काम परस्पर अनुस्यूत हैं। इसीलिए सर्वत्र त्रिवर्ग के रूप में इनका वर्णन मिलता है।

आगे क्रमशः धर्म, अर्थ और काम का लक्षण बता कर कहा गया है कि सामूहिक रूप से विचार करने पर काम की अपेक्षा अर्थ की और अर्थ की अपेक्षा धर्म की वरीयता मान्य है। मानव-समाज की सुव्यवस्था के लिए यह उचित ही है। आगे राजा और वेश्या के लिए अर्थ की प्रधानता प्रदर्शित है। लोकयात्रा और वर्णाश्रम व्यवस्था के पालन करने-कराने के लिए राजा को अर्थ की सर्वाधिक अपेक्षा रहती है। वेश्या तो इसीके लिए बाजार में बैठती है।

धर्म, अर्थ और काम के लक्षण वहाँ क्रमशः इस प्रकार बताए गये हैं— यज्ञ-याग आदि का फल इस लोक में देखने को नहीं मिलता, अतः इनमें मानव की प्रवृत्ति नहीं होती। शास्त्रों के द्वारा इनमें प्रवृत्ति कराई जाती है। इसी तरह मांस भक्षण जैसे लौकिक विषयों का फल साक्षात् दिखाई पड़ता है, अतः इनमें स्वाभाविक रूप से मानव की प्रवृत्ति होती है। ऐसे कार्यों से निवृत्त करने के लिए भी शास्त्र की अपेक्षा है। इस तरह से सही कार्य में प्रवृत्ति और गलत कार्य से निवृत्ति का उपदेश ही धर्म के नाम से जाना जाता है। इसका ज्ञान श्रुति (वेद) से और धर्मशास्त्र के ज्ञाता विद्वानों से प्राप्त होता है।

विद्या, भूमि, सुवर्ण, पशु, धान्य, घर-गृहस्थी की सामग्री के साथ हितकारी मित्रों का अर्जन एवं अर्जित विद्या आदि का वर्धन और संरक्षण **अर्थ** नामक पुरुषार्थ कहलाता है। इसकी प्रक्रिया को अर्थशास्त्र एवं कृषि-पशुपालन आदि में निपुण व्यक्तियों और व्यापारियों से सीखना चाहिए।

आत्मा के साथ संयुक्त मन से अधिष्ठित श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण नामक ज्ञानेन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के प्रति आकर्षण ही सामान्य रूप से **काम** कहलाता है। इसी तरह से कर्मेन्द्रियों के माध्यम से विशेष प्रकार के स्पर्श के साथ जब अनोखे आभिमानिक सुख की फलवती प्रतीति होती है, तो उसे काम की विशेष अवस्था कहा जाता है। इसका ज्ञान कामशास्त्र से तथा विशिष्ट नागरिकों के साथ सम्पर्क से प्राप्त किया जा सकता है।

यहाँ कुछ आचार्यों का कहना है कि धर्म एक अलौकिक तत्त्व है, अतः धर्म का उपदेश करने वाले शास्त्र की अपेक्षा है। इसी तरह से अर्थ की प्राप्ति के

लिए भी उपाय अपेक्षित हैं और इन उपायों के ज्ञान के लिए भी शास्त्र अपेक्षित है, किन्तु काम में तो पशु-पक्षी आदि की भी स्वाभाविक प्रवृत्ति देखने को मिलती है तथा आत्मा में राग-द्वेष आदि की तरह काम की भी नित्य स्थिति मानी गई है। ऐसी स्थिति में इसके लिए शास्त्र की कोई आवश्यकता नहीं है। इस पर आचार्य वात्स्यायन का कहना है कि विशेष काम की स्थिति स्त्री और पुरुष के बाह्य और आभ्यन्तर संप्रयोग पर निर्भर है। इसके लिए भी उपाय अपेक्षित है। इन उपायों की प्रतीति के लिए **कामशास्त्र** का ज्ञान अपेक्षित है। सूत्रकार ने यहाँ पशु-पक्षी आदि की अपेक्षा मानव की इस काम प्रवृत्ति को तृतीय पुरुषार्थ के रूप में मान्यता देकर इसकी विशेषताओं पर पूरे ग्रन्थ में प्रकाश डाला है।

आगे वात्स्यायन मुनि लौकायतिक पक्ष को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि धर्म के आचरण की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसका फल तो परलोक में मिलेगा। साथ ही यह आशंका भी बनी रहती है कि उसका फल मिलेगा भी या नहीं। ऐसी स्थिति में कोई भी समझदार व्यक्ति अपने हाथ में आई वस्तु दूसरे को क्यों देगा? कल मिलने वाले मयूर की आशा में आज मिले क़बूतर को भला कोई क्यों छोड़ेगा? संशय में पड़ी सुवर्ण मुद्रा की अपेक्षा निःसन्दिग्ध रूप से प्राप्त होने वाली चाँदी या ताँबे की मुद्रा हमारे लिए ग्राह्य होगी।

इस प्रकार लौकायतिक पक्ष को प्रस्तुत कर अनेक हेतुओं को दिखाते हुए वे यह स्थापित करते हैं कि धर्म का आचरण अवश्य करना चाहिए। वे कहते हैं कि शास्त्रों पर कोई अविश्वास नहीं करता, श्येन याग जैसे अभिचार कर्मों का और शान्तिक-पौष्टिक कर्मों का भी फल हमें इसी जीवन में मिलता है, नक्षत्र-चन्द्र-सूर्य-तारा-ग्रहचक्र की लोककल्याण के लिए बुद्धिपूर्वक की सी वृत्ति हमें दिखाई पड़ती है और वर्णाश्रम धर्म के सहारे ही लोकयात्रा प्रवृत्त है। सबसे बड़ी चीज हमें यह देखने को मिलती है कि अपने पास के बीजों को हम भविष्य में प्राप्त होने वाली फसल के लिए खेत में बो देते हैं। इन हेतुओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म के आचरण से भी हमें इसी प्रकार ऐहिक एवं पारलौकिक फलों की प्राप्ति अवश्य होती है, अतः धर्म का आचरण हमारे लिए उचित है।

काल को ही सबका कारण मानने वाले दार्शनिक भी भारत में हुए हैं। उनके मत को उपस्थापित कर यहाँ बताया गया है कि अर्थोपार्जन की कोई आवश्यकता नहीं है। बहुत प्रयत्न करने पर भी कभी-कभी अर्थ की प्राप्ति नहीं होती और बिना किसी प्रयत्न के भी यह मिल जाता है। यह सब काल का ही प्रभाव है। काल ही पुरुष की भलाई और बुराई में, जय और पराजय में तथा सुख और दुःख की अनुभूति में प्रधान कारण है। काल के प्रभाव से ही बलि इन्द्र बन

गया और फिर काल ने ही उसे उस पद से च्युत कर दिया और काल ही उसे पुनः प्रतिष्ठित कर देगा। काल को सबका कारण मानने वाले कालकारणिकों की यह उक्ति है। इसके उत्तर में यहाँ बताया गया है कि मनुष्य की सारी प्रवृत्तियाँ पुरुषकार (प्रयत्न) से ही सम्पन्न होती हैं, अतः हमें उपाय की तलाश रहती है, हम हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठे रहते। जो कार्य निश्चित रूप से होने वाला है, उसके लिए भी प्रयत्न की अपेक्षा रहती है। बिना उद्योग के कोई भी कार्य पूरा नहीं होता, व्यक्ति किसी भी प्रकार कां सुख प्राप्त नहीं कर सकता, अतः अर्थ की प्राप्ति के लिए भी पुरुषकार अपेक्षित है।

धर्म और अर्थ के लिए उठाये गये प्रश्न को काम के प्रसंग में भी उठाया गया है कि व्यक्ति के लिए काम का सेवन भी अपेक्षित नहीं है, क्योंकि इसके सेवन से धर्म और अर्थ की हानि होती है। इसी तरह से सज्जन पुरुष इसके इसलिए विरोधी हो जाते हैं कि काम के सेवन के प्रसंग में व्यक्ति का नट, नर्तक आदि के साथ जो संपर्क होता है, उसे वे उचित नहीं मानते, इसके लिए व्यक्ति को गलत काम करने पड़ते हैं, वह पवित्रता पर कोई ध्यान नहीं देता और अन्ततः कामी पुरुष का समाज पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं रह जाता। वह प्रमादी बन जाता है, उसके स्वभाव में हलकापन आ जाता है, कोई उस पर विश्वास नहीं करता और अन्ततः समाज में वह अग्राह्य बन जाता है। काम के वश में पड़े हुए बहुत से महानुभाव अपने परिजनों के साथ नष्ट हो चुके हैं। इस प्रसंग में यहाँ भोजवंशी राजा दाण्डक्य, देवराज इन्द्र, कीचक, रावण जैसों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वात्स्यायन ने बताया है कि यह दृष्टि अर्थ को प्रधानता देने वाले आचार्यों की है।

आचार्य ने आगे धर्म और अर्थ के समान ही काम की भी उपयोगिता को दिखाने वाले कारणों को स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि शरीर के धारण में आहार की सी स्थिति काल की भी है। इस लोक में धर्म और अर्थ का साक्षात् म। फल काम के रूप में ही मिलता है, क्योंकि स्वर्ग-सुख की प्रतीति तो परलोक में ही हो सकती है। काम के अनर्गल सेवन से उसी तरह दोष की प्रसक्ति आ सकती है, जैसे अधिक आहार करने से व्यक्ति अजीर्ण रोग से ग्रस्त हो जाता है। उचित आहार से जैसे शरीर पुष्ट होता है, उसी तरह काम के विषय में भी समझना चाहिए। आहार, शयन (निद्रा) और अब्रह्मचर्य (काम) के युक्तियुक्त सेवन से शरीर नीरोग रहता है, इसकी पुष्टि आयुर्वेद शास्त्र से भी होती है। सूत्रकार भी उदाहरणों से इस बात की पुष्टि करते हैं कि जैसे भिखारियों के डर से कोई भोजन बनाना बन्द नहीं करता और मृगों के डर से कोई खेती करना बन्द

नहीं करता, उसी तरह काम के दुरुपयोग के डर के कोई युक्तिपूर्वक काम के सेवन से विरत नहीं होगा।

इस तरह से त्रिवर्ग के सेवन की उपयोगिता को बताने के बाद शास्त्रकार तीन श्लोकों में प्रकरण का उपसंहार इस प्रकार करते हैं—यहाँ प्रदर्शित विधि से धर्म, अर्थ और काम का युक्ति युक्त सेवन करता हुआ मानव इस लोक और परलोक में किसी भी अनुताप से रहित हो अत्यन्त सुख का उपभोग करता है। जिस कार्य को करने से परलोक में मेरा क्या होगा? इस बात की कोई चिन्ता नहीं रहती और अर्थ का नाश भी नहीं होता, ऐसे धर्म और अर्थ के अविरोधी काम का व्यक्ति को सेवन करना चाहिए। मनुष्य को ऐसा ही कार्य करना चाहिए, जो धर्म, अर्थ और काम इन तीनों वर्गों का साधक हो। दो वर्गों के अथवा एक वर्ग के साधक कार्यों को भी मनुष्य कर सकता है, किन्तु उसे ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए, जो केवल एक ही प्रयोजन को सिद्ध करता हो और जिसके कारण दो प्रयोजनों की सिद्धि में बाधा पड़ती हो।

१. धर्म

''यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'' (१.१.२) वैशेषिक सूत्र में प्रदर्शित धर्म का यह लक्षण धर्म की प्रकृति को पूरी तरह से समाहित करता है। अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि में धर्म प्रधान साधन है। यहाँ अभ्युदय का अर्थ है—अभितः उदय, अर्थात् सब तरह से आगे बढ़ना उन्नति को प्राप्त करना। निःश्रेयस का अर्थ है—निश्चितं श्रेयो निःश्रेयसम्। निश्चित फल, अर्थात् जो कभी भी क्षीण नहीं होता, ऐसे परम आनन्द की सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति। भगवत्प्राप्ति या मोक्ष की प्राप्ति का इसमें समावेश होगा। अथवा ''नास्ति श्रेयान् यस्मात् तन्निःश्रेयसम्'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे बढ़कर कोई उत्तम फल न हो, वह निःश्रेयस कहलायेगा। ये अभ्युदय और निःश्रेयस पूरी मानव जाति को अभीष्ट हैं। ऐहिक सर्वविध सुख और पारलौकिक स्वर्ग आदि का हम अभ्युदय में समावेश करेंगे और मुक्ति, मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण, अपवर्ग जैसे शब्दों से विभिन्न दर्शनों में निःश्रेयस का ही प्रतिपादन हुआ है। विधिवत् आचरित धर्म से इन दोनों ही लक्ष्यों की प्राप्ति होती है। अतः त्रिवर्ग में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी लिए त्रिवर्ग का प्रतिपादन करते समय सर्वत्र धर्म को प्रथम स्थान दिया गया है।

धारणार्थक 'धृ' धातु से बने धर्म शब्द का अर्थ धारण करना, पालन करना, सहारा देना है। मनुस्मृति के व्याख्याता मेधातिथि के अनुसार धर्म के पाँच स्वरूप माने गये हैं—१. वर्णधर्म, २. आश्रमधर्म, ३. वर्णाश्रमधर्म, ४. नैमित्तिक

धर्म और ५. गुण धर्म। गौतम धर्मसूत्र (१९.१) के व्याख्याता हरदत्त तथा मनुस्मृति (२.२५) के टीकाकार गोविन्दराज ने भी धर्म के ये ही पाँच प्रकार बताये हैं। इनका प्रतिपादन वेद, स्मृति, पुराण आदि शास्त्रों में हुआ है, यह बताया जा चुका है। इन शास्त्रों में सांग वेद, मानव धर्म (मनुस्मृति), पुराण और चिकित्सा शास्त्र का विशेष स्थान है। जैसा कि बताया गया है—

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हातव्यानि हेतुभिः॥

चारों पुरुषार्थों के साधन का उपाय बताने वाले, अर्थात् सिखाने वाले ग्रन्थों को शास्त्र कहा जाता है। यहाँ चिकित्साशास्त्र का समावेश साभिप्राय है। ''चिकित्सित-जौतिष-तन्त्रवादाः पदे पदे प्रत्ययमावहन्ति'' इस वचन में चिकित्साशास्त्र के साथ ज्यौतिष एवं तन्त्रशास्त्र भी समाविष्ट हैं। वेद आदि शास्त्रों में निर्दिष्ट विधि-विधानों के अनुष्ठान से भी फल की प्राप्ति उसी प्रकार होती है, जैसे चिकित्साशास्त्र, ज्यौतिषशास्त्र और तन्त्रशास्त्र में निर्दिष्ट विधि-विधानों के अनुष्ठान से फल की प्राप्ति होती है। इन तीन शास्त्रों में निर्दिष्ट उपायों के फल का साक्षात्कार हम इस लोक में भी प्रत्यक्ष देख पाते हैं, उसी तरह से अन्य शास्त्रों में निर्दिष्ट फलों की भी प्राप्ति परलोक में अवश्य होगी, इसका विश्वास ये प्रत्यक्ष-शास्त्र हमें दिलाते हैं। धर्म शब्द के अर्थ और उसके उपादानों का विशद विवेचन भारतरत्न डॉ० पी०वी० काणे के इतिहास-ग्रन्थ के प्रारम्भ (पृ० ३-७) में ही देखा जा सकता है।

धर्म के प्रति श्रुति, स्मृति आदि की प्रमाणता का प्रतिपादन मनुस्मृति (२.६, १०, १२) के प्रमाण से किया जा चुका है। याज्ञवल्क्य स्मृति (१.७) में सम्यक् संकल्प से उत्पन्न हुए काम का भी इसमें समावेश किया गया है। इन सब प्रमाणों में वेद को ही सर्वोपरि वरीयता दी गई है। मीमांसाशास्त्र के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद में वेदानुवर्ती स्मृति, सदाचार आदि को भी धर्म के प्रति प्रमाण माना गया है। उसी का अनुवर्तन करते हुए पुराणों में भी इनका तारतम्यभाव स्थापित किया गया है। तदनुसार सर्वत्र वेद की सर्वोपरि मान्यता स्थापित है। तब क्रमशः स्मृति, पुराणेतिहास, आगम आदि को मान्यता दी गई है। सामान्यतः आज भी सर्वत्र इस प्रक्रिया का पालन किया जाता है।

धर्म शब्द के तीन अर्थों की अभी चर्चा की गई है कि धर्म सबका धारण करने वाला, पालन-पोषण करने वाला और सबको सहारा देने वाला है। धर्म सम्पूर्ण जगत् को धारण करता है, सबका पालन-पोषण करता है और सबको सहारा देता है। सम्पूर्ण जगत् एक मात्र धर्म के ही बल पर सुस्थिर है। यह

तैत्तिरीय श्रुति इसमें प्रमाण है—"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा। लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदति। धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति।" यहाँ बताया गया है कि सम्पूर्ण जगत् का आधार एकमात्र धर्म है। समस्त प्रजा धार्मिक व्यक्ति के पास अपने-अपने संशयों को दूर करने के लिए पहुँचती है। धर्म से ही पाप की निवृत्ति होती है। इसीलिए इस विश्व में धर्म ही सबसे श्रेष्ठ तत्त्व है। चाणक्य का भी कहना है कि समस्त जगत् एकमात्र धर्म के बल पर ही सुस्थिर है—"धर्मेण धार्यते लोकः"। महाभारत के इस वचन में भी यही बात कही गई है—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

धर्म की उत्पत्ति कैसे होती है? इस प्रश्न का समाधान गौतम धर्मसूत्र का यह वचन करता है—"कर्मजन्योऽभ्युदयनिःश्रेयसहेतुरपूर्वाख्य आत्मगुणो धर्मः" अर्थात् कर्म से उत्पन्न, अभ्युदय और निःश्रेयस का साधन अपूर्व नामक जो आत्मगुण है, वही धर्म है। इसका अभिप्राय यह है कि वर्णाश्रम धर्मों के सम्यक् पालन से मनुष्यों की आत्मा में धर्म की उत्पत्ति अपूर्व नामक संस्कार के रूप में होती है। वैशेषिक दर्शन में धर्म को आत्मा का गुण माना गया है। यज्ञ-याग आदि क्षणिक हैं, उनसे स्वर्ग आदि की प्राप्ति कैसे हो सकती है? इसी आशंका के परिहार के लिए शुभ-अशुभ आदि कार्यों के कर्ता की आत्मा में अपूर्व नामक संस्कार उत्पन्न हो जाता है और इसी संस्कार के कारण व्यक्ति अपने शुभ-अशुभ आदि कर्मों के फल को भोगता है, ऐसा शास्त्रों में विधान है। स्पष्ट है कि धर्म और अधर्म की भी उत्पत्ति का कारण कर्म है। कर्म सत् और असत् के भेद से दो प्रकार के हैं। सत्कर्मों के आचरण से पुण्य की और असत्कर्मों के आचरण से पाप की उत्पत्ति होती है। इसीलिए इनको सुकृत और दुष्कृत भी कहते हैं। धर्म और अधर्म का साधारण नाम कर्म है। हजारी कृति से, अर्थात् कर्तव्य से उत्पन्न होने के कारण पुण्य और पाप दोनों ही कर्म के नाम से अभिहित होते हैं। दार्शनिक भाषा में यह कर्म अपूर्व के नाम से जाना जाता है। कर्ता की आत्मा में स्थित वह अपूर्व नामक संस्कार ही भविष्य में फलदान में समर्थ होता है। "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" इस शास्त्र वचन के अनुसार बिना फलोपभोग कराये इसका क्षय नहीं होता। मधुमक्खियाँ जैसे रानी मक्खी का अनुसरण करती हैं अथवा बछड़ा जैसे गोमाता का अनुसरण करता है, उसी तरह मनुष्य का किया कर्म भी सदा उसके साथ-साथ अपूर्व के रूप में ही चलता है।

श्रुति और स्मृति के बाद धर्म का तीसरा आधार सदाचार है। मनुस्मृति (२.१८) में सदाचार का लक्षण यह बताया गया है—

तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥

मनुस्मृति में प्रस्तुत स्थल पर देश के रूप में ब्रह्मावर्त चर्चित है। ब्रह्मर्षि देश, मध्यदेश और आर्यावर्त के रूप में वहीं (२.१९-२२) इसका विस्तार हुआ है। ''यस्मिन् देशे'' पाठ स्वीकार कर हम इसका और अधिक विस्तार कर सकते हैं। धर्मशास्त्र के सभी ग्रन्थों में सदाचार का प्रकरण मिलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी गृहस्थाश्रम के प्रकरण (पृ० १९-२२) में सदाचारों की चर्चा आ चुकी है। ''आचारः परमो धर्मः'' (१.१०८-११०) मनुस्मृति के इस प्रकरण में आचार की महिमा गाई गई है। मनुस्मृति (४.१५५) में ही सदाचार को धर्म का मूल माना गया है। इसी प्रसंग में वहाँ दुराचारी की निन्दा इस तरह से की गई है—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥ (४.१५७)

दुराचारी पुरुष की लोक में निन्दा होती है। वह सदा दुःखी, रोगी और अल्पायु होता है। सदाचारी की प्रशंसा भी वहाँ की गई है—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥ (४.१५६)
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥ (४.१५८)

मनुष्य सदाचार के सेवन से लंबी आयु, योग्य संतान और अक्षय धन प्राप्त करता है। सदाचार मनुष्य की बुरी आदतों को दूर कर देता है। सभी अच्छे लक्षणों से रहित व्यक्ति भी यदि सदाचार का पालन करता है, श्रद्धा से सम्पन्न है और किसी की निन्दा नहीं करता, तो वह सौ वर्ष तक जीता है। आचारहीन की निन्दा महाभारत में इस तरह से की गई है—

आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः खलु षड्भिरङ्गैः।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥

छः अंगों के साथ चारों वेदों का अध्ययन करने से दुराचारी पुरुष पवित्र नहीं हो सकता। सारी श्रुतियाँ मृत्युकाल आने पर उसी तरह से उसका साथ छोड़ देती है, जैसे पंख उग आने पर पक्षी अपने घोंसले को छोड़ देता है। महाभारत में ही बताया गया है कि चारों वेदों को पढ़ने वाला दुराचारी ब्राह्मण शूद्र से भी गया-बीता माना जाता है। इसके विपरीत विष्णुपुराण (३.११.२) में बताया गया है कि सदाचारी पुरुष दोनों लोकों को जीत लेता है—''सदाचारवता पुंसा जितौ लोका-

वुभावपि''। इन वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्रों में सदाचार और सदाचारी की प्रशंसा के साथ दुराचार और दुराचारी की निन्दा भी की गई है। इस तरह से धर्म के तृतीय अंग के रूप में सदाचार की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। इसको कहने की आवश्यकता नहीं है कि सदाचार के पालन में सत्संगति का अत्यधिक महत्त्व है। ''सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्''।

देवीभागवत (११.१.१६-१७) में शास्त्रीय और लौकिक के रूप में आचार के दो भेद बताये गये हैं। शास्त्रीय के समान ही लोकाचार के पालन की भी वहाँ आवश्यकता बताई गई है। इसी के साथ ग्रामधर्म, जातिधर्म, देशधर्म और कुलधर्म का भी परित्याग न किया जाय, यह भी स्पष्ट रूप से निर्देशित है—

आचारो द्विविधः प्रोक्तः शास्त्रीयो लौकिकस्तथा।
उभावपि प्रकर्तव्यौ न त्याज्यौ शुभमिच्छता॥
ग्रामधर्मा जातिधर्मा देशधर्माः कुलोद्भवाः।
परिग्राह्या नृभिः सर्वैर्नैव ताँल्लङ्घयेन्मुने॥

महाभारत (वन० १.३१) में भी प्रदर्शित है कि उत्तम, प्रसिद्ध एवं धर्मनिष्ठ पुरुषों ने लोक में धर्म, अर्थ और काम की उत्पत्ति के हेतुभूत जो वेदोक्त गुण अर्थात् साधन बताये हैं, वे ही सब लोकाचार के रूप में प्रकट हुए हैं, सामान्य जनों के लिए भी वे आचरणीय है और शिष्ट पुरुष उनका आदर करते हैं। इसीलिए विवेकी पुरुषों को देशाचार, कुलाचार और लोकाचार का यथोचित पालन करना चाहिए, क्योंकि इन सब आचारों से भी धर्म का उपबृंहण होता है। मनुस्मृति (४.१७६) में तो यहाँ तक कहा गया है कि जो अर्थ और काम धर्म से रहित हो, उसे त्याग दे और जिसमें आगे सुख न हो, ऐसे धर्म को भी त्याग दे। इसी तरह जो जगत् में निन्दित है, उसे भी त्याग देना चाहिए—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च॥

यहाँ के चौथे पाद में लोकाचार के विपरीत धर्म के भी परित्याग की बात कही गई है। लोकविरुद्ध धर्म का आचरण न करने की बात कूर्मपुराण में उपलब्ध व्यासगीता में भी निर्दिष्ट है। लोकाचार के महत्त्व को बताने वाले इन दो वचनों को आप देखिये—

यद्यपि स्यात् स्वयं ब्रह्मा त्रैलोक्याकर्षणक्षमः।
तथापि लौकिकाचारं मनसाऽपि न लङ्घयेत्॥

अर्थात् त्रिलोकी के आकर्षण में समर्थ स्वयं ब्रह्मा को मन से भी लोकाचार का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। दूसरा वचन है—

यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम्।

इसका भी यही अभिप्राय है कि धार्मिक दृष्टि से शुद्ध आचरण यदि लोकाचार के विरुद्ध पड़ता हो, तो उसका त्याग कर देना चाहिए। 'नाचरणीयम्' पद की आवृत्ति यहाँ विशेष रूप से हमारा ध्यान आकृष्ट करती है।

पुरुषार्थ-चतुष्टय की चर्चा करते समय हमने चतुर्भद्र शब्द का प्रयोग किया है (पृ० ७५)। यह स्थिति चित्त की शुद्धि के ऊपर निर्भर है। देवीभागवत (६.११.५०) में बताया गया है कि चित्त की शुद्धि आहार की शुद्धि पर निर्भर है—

आहारशुद्ध्या नृपते चित्तशुद्धिस्तु जायते।
शुद्धे चित्ते प्रकाशः स्याद् धर्मस्य नृपसत्तम॥

मानव के चित्त के शुद्ध होने पर ही उसे चतुर्भद्र (चारों पुरुषार्थों की उज्ज्वलता) स्थिति प्राप्त होती है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। चारों पुरुषार्थ उसके सामने मंगल की वर्षा करने लगते हैं।

इसके लिए आवश्यक है कि मानव मनु-प्रोक्त दस लक्षण वाले धर्म का शुद्ध चित्त से आचरण करे। चित्त की इस शुद्धि पर छान्दोग्य उपनिषत् का भी कहना है—"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" (७.२६.२)। इससे देवीभागवत की ऊपर निर्दिष्ट उक्ति को ही समर्थन मिलता है। मनुप्रोक्त १० धर्म ये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ (६.९२)

हम यहाँ एक-एक कर इनकी व्याख्या करते हैं—

१. **धृति**—धृति का अर्थ है—धैर्य, सन्तोष, दृढ़ता, आत्मनिर्भरता, स्वावलंबन। मनुष्य में धैर्य की अत्यन्त आवश्यकता है। धैर्य-हीन मानव में दृढ़ता नहीं होती। धैर्य का संचार होने पर ही मनुष्य में दृढ़ता स्वावलंबन और आत्म-निर्भरता का भाव जग पाता है। अतः धर्माचरण करने वाले को धैर्यशाली, संतोषी होना चाहिए। बिना धैर्य के मनुष्य की कोई भी क्रिया सफल नहीं हो सकती। धृति मानव-जीवन की धुरी है। प्रयत्न करने पर भी यदि अभीष्ट सिद्ध न हो, उस समय सन्तोष ही हमें बल देता है कि हम अपने कर्तव्य के प्रति पूरी तरह से दृढ़ रहें।

२. क्षमा—क्षमा का अर्थ है, किसी के अपकार करने पर भी उसका बुरा न करना। यह धर्म का बहुत बड़ा अंग है। इसके अभाव में मनुष्य अपने स्वजनों के साथ भी कलह करता हुआ अपने कर्तव्य से च्युत हो जाता है। क्षमा से मनुष्य के सब काम सरल हो जाते हैं, अतः मनुष्य में इसका होना जरूरी है। क्षमा निर्बलों का महान् बल है, बलवानों का महान् आभूषण है। यह एक वशीकरण

मन्त्र है। क्षमा से मनुष्य के सब काम सिद्ध हो जाते हैं। प्रस्तुत श्लोक में यही बताया गया है—

क्षमा बलमशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा।
क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न सिद्ध्यति॥

३. दम—मन के संयम का नाम **दम** है। इसके अभाव में काम, क्रोध आदि दोषों के वश में होकर मनुष्य पथभ्रष्ट हो जाता है। बाह्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति में मन को ही मुख्य कारण माना गया है। अतः मनुष्य के लिए आन्तर इन्द्रिय मन पर नियन्त्रण रखना धर्म के पालन के लिए अति आवश्यक है।

४. अस्तेय—अन्याय से, छल-कपट या चोरी से पराई वस्तु का अपहरण कर लेना **स्तेय** कहा जाता है। यह एक भयंकर दुर्गुण है। इस दुर्गुण से मनुष्य जिस-किसी की भी वस्तु का अपहरण कर कुमार्गगामी हो जाता है। स्तेय से बढ़कर और कोई अनर्थकारी दोष है ही नहीं, यह मनुष्य-जीवन का एक महान् कलंक है। इस दुर्गुण का न होना **अस्तेय** कहलाता है। धर्माचरण करने वालों में इस गुण का होना भी जरूरी है।

५. शौच—बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से **शौच** अर्थात् पवित्रता दो तरह की होती है। मृत्तिका, जल आदि से हाथ आदि को शुद्ध करना बाह्य शौच और दया, परोपकार आदि गुणों के द्वारा चित्त को शुद्ध करना आभ्यन्तर शौच कहलाता हैं। इस दो प्रकार की शुचिता के अभाव में अशुद्ध मनुष्य धर्म का आचरण नहीं कर सकता। अतः धर्मानुष्ठान की सफलता के लिए मनुष्य में इस गुण का होना भी आवश्यक है।

६. इन्द्रिय-निग्रह—विषयों की ओर जाने वाली इन्द्रियों का निग्रह करना, अर्थात् इन्द्रियों को अपने वश में रखना **इन्द्रिय-निग्रह** कहलाता है। इसके बिना चित्त के विषयों के प्रति आकृष्ट हो जाने पर धर्मानुष्ठान में बाधा आ जाती है और इससे मनुष्य का अधःपतन भी हो सकता है। अतः धार्मिक पुरुष में इस गुण का होना भी जरूरी है। इसीलिए मनु ने मनुष्यों के प्रत्येक व्यवहार में इन्द्रिय-संयम पर विशेष जोर दिया है (मनु० २.८८)।

७. धी—शास्त्रों के अनुसार कर्त्तव्य और अकर्तव्य का विवेक करने वाली बुद्धि को **धी** कहते हैं। इस गुण के अभाव में गुणों के द्वारा निर्दिष्ट कर्मों के अनाचरण तथा शास्त्र-निषिद्ध कर्मों के आचरण से मनुष्य अनर्थ को प्राप्त करता है। अतः धार्मिक मनुष्य में विवेकवती बुद्धि का होना भी आवश्यक है।

८. विद्या—आत्मज्ञान ही धर्मानुष्ठान की आधारशिला है। इस आत्मज्ञान को ही **विद्या** कहा ज़ाता है। इसके बिना मनुष्य की प्रवृत्ति धर्म की ओर नहीं हो पाती। देह से भिन्न आत्मा का ज्ञान ही मनुष्य को पारलौकिक फलवाले सत्कर्मों

में प्रवृत्त कराता है। अतः धर्मानुष्ठान करने वाले व्यक्ति में इस गुण का होना भी अपेक्षित है।

९. **सत्य**—सही बात को कहना ही **सत्य** है। सत्य से धर्म की अभिवृद्धि होती है—"धर्मः सत्येन वर्धते" (मनु० ८.८३)। मनुष्य प्रमादवश झूठ बोल देता है। झूठ बोलने से मनुष्य के मन में मलिनता आ जाती है। मन, वचन और कर्म का एक क्रम से रहना ही शुद्धता है। झूठ बोलने से यह क्रम बिगड़ जाता है, क्योंकि तब मन में कुछ और होता है, वाणी से कुछ और ही निकलता है और कर्म कुछ और ही होता है। इन तीनों के क्रम का यह बिगड़ना ही एक प्रकार का मैल है। झूठ बोलने से मनुष्य का मन मलिन हो जाता है। सत्य के अभाव में झूठे मनुष्य पर कोई विश्वास नहीं करता। इसीलिए मनुष्य में इस गुण का रहना भी आवश्यक है।

१०. **अक्रोध**—क्रोध के कारण के रहने पर भी मन में क्रोध का उत्पन्न न होना **अक्रोध** कहलाता है। क्रोध मनुष्य का महान् शत्रु है। क्रोधी पुरुष को अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का, वाच्य-अवाच्य आदि का भान ही नहीं रहता। इसीलिए क्रोधी व्यक्ति अपने माता-पिता, गुरुजन, बन्धु-बान्धव आदि के साथ भी दुर्व्यवहार कर बैठता है। क्रोधी पुरुष क्या-क्या पाप (अनुचित कर्म) नहीं कर बैठता? अतः क्रोध से होने वाले अनर्थों से बचने के लिए प्रत्येक मानव में क्रोध के अभाव अर्थात् अक्रोध का होना भी सर्वथा अपेक्षित है।

शास्त्रों में सामान्य धर्म, विशिष्ट धर्म और आपद्धर्म के रूप में धर्म के त्रिविध रूपों की व्याख्या की गई। यहाँ जिस दस प्रकार के धर्म का निरूपण किया गया है, वह सामान्य धर्म के अन्तर्गत आता है। द्वितीय परिच्छेद में वर्णों और आश्रमों के धर्म निरूपित हैं। उनका समावेश विशिष्ट धर्मों में होगा। वर्णों के धर्मों की चर्चा के प्रसंग में मनु प्रोक्त (१०.१०१-११३) आपद्धर्म भी सूचित हैं। ये सब धर्म नामक प्रथम पुरुषार्थ के अंग हैं।

इस धर्म नामक प्रथम पुरुषार्थ के आचरण में दंभ एक बड़ी बाधा के रूप में उपस्थित होता है। दंभ ऐसा भयंकर दोष है कि वह धर्म को घुन की तरह बरबाद कर डालता है। बड़े-बड़े धार्मिक भी दंभ के वशीभूत हो जाते हैं। दंभ से बचना भगवान् के अनुग्रह के बिना अत्यन्त ही कठिन है। बड़े-बड़े त्यागी विवेकी एवं बुद्धिमान् पुरुष भी इस दोष के वशीभूत होकर लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाते हैं, अतः धर्म का सही रूप में सेवन करने वाले को दंभ से सदैव सतर्क सावधान रहकर बचते रहना चाहिए। धर्म का अनुष्ठान करने वाले को दंभ बहुत जल्दी पकड़ लेता है।

धार्मिक पुरुष के लिए दंभ के समान धर्माभास से बचना भी जरूरी है। धर्माभास का मतलब है नकली धर्म। भागवतमहापुराण (७.१५.१२) में इसकी पाँच शाखाओं का उल्लेख मिलता है—१. विधर्म, २. परधर्म, ३. आभास, ४. उपधर्म और ५ छल। इनमें से विधर्म का अर्थ शास्त्र-विरूद्ध धर्म। जिसके आचरण से धर्म के अनुष्ठान में बाधा पड़े, उसे विधर्म कहते हैं, जैसे ज्वरग्रस्त व्यक्ति का गंगास्नान। दूसरे के लिए उपदिष्ट धर्म का सेवन। ब्राह्मण के लिए उपदिष्ट धर्म का क्षत्रिय आचरण करे अथवा संन्यासी के लिए उपदिष्ट धर्म का आचरण करे, तो यह उचित नहीं है। भगवद्गीता (३.३५) में परधर्म को भयावह बताया गया है। आभास इसकी तीसरी शाखा है। इसका अर्थ है निजी इच्छा से कल्पित धर्म। ऐसे बहुत से धर्म भी लोक में प्रचलित हैं, जो वास्तविक धर्म से बहुत दूर चले गये हैं। धर्म के जैसे प्रतीत होने वाले ऐसे धर्माभासों से धार्मिक व्यक्ति को दूर ही रहना चाहिए। इसकी चौथी शाखा है उपधर्म। दंभ या पाखण्ड के रूप में इसका आचरण होता है। विदुरनीति में बताया गया है कि इज्या, अध्ययन, दान और तप का आचरण दिखावे के लिए भी हो सकता है। इसीलिए इसे उपधर्म, अर्थात् नकली धर्म कहा गया है। इसकी अन्तिम शाखा छल है। शास्त्र के वचन को तोड़-मरोड़ कर उसकी जो मनोनुकूल व्याख्या की जाती है, वही है छल। कपट के नाम से भी यह शास्त्रों में वर्णित है। धर्मात्मा पुरुष को इन सभी धर्माभासों से सदा दूर ही रहना चाहिए।

प्रश्न उठता है कि धर्म की आवश्यकता ही क्या है? शास्त्रों में इसका अनेक तरह से समाधान किया गया है। शुक्रनीति में बताया गया है कि समस्त प्राणियों की सभी प्रवृत्तियाँ केवल सुख के लिए होती है। मनुष्य सदैव सुख चाहता है। समस्त सुखों का मूल धर्म है। सुख उसी को मिलता है, जिसका पुण्य होता है, अर्थात् जो सदाचार का पालन करता है। बिना धर्म के किसी को भी सुख मिल ही नहीं सकता। जिस का पुण्य न हो, जो चरित्रवान् न हो, वह चाहे जितनी भी अनीति, अनाचार या बेईमानी करे, फिर भी उसे सुख नहीं मिल सकता। मिलता भी है, तो वह टिकता नहीं। इसलिए मनुष्य को सदैव धर्म में तत्पर रहना चाहिए। वहाँ के इस वचन का यही अभिप्राय है—

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखं च न विना धर्मात् तस्माद् धर्मपरो भवेत्॥

यही अभिप्राय आचार्य कौटिल्य, कामन्दक एवं सोमदेव सूरि आदि विद्वानों ने भी व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि परलोक में मनुष्य का सब कुछ धर्म पर अवलंबित है। वहाँ धर्म के सिवाय अन्य कोई भी सहायक नहीं हो सकता, क्योंकि अपने साथ जन्मा यह देह भी जब वहाँ साथ नहीं दे सकता, तो

फिर इतर लोकों का कहना ही क्या है? अतः मनुष्य को धर्म में कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। इस वचन को देखिये—''सहसंभवोऽपि देहो नामुत्र सहानुयायी, किं पुनरन्यः''।

भगवान् मनु ने तो स्पष्ट ही कहा है कि परलोक में जीव की सहायता के लिए उसके माता-पिता, पुत्र-स्त्री या अन्य बन्धु-बान्धव कोई भी नहीं रहते, वहाँ तो केवल धर्म ही उसका साथ देता है—

नामुत्र च सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥

महाभारत में स्पष्ट घोषणा की गई है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

अर्थात् मनुष्य को कभी भी काम के कारण, भय में पड़कर या लोभ के कारण, अपने जीवन की रक्षा के लिए भी धर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं, क्षणिक हैं। जीव नित्य है और उसकी उत्पत्ति एवं नाश का कारण अनित्य है। इसलिए धर्म के विषय में मनुष्य को सदैव सावधान रहना चाहिए। इन सब वचनों से धर्म की आवश्यकता, उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है।

धर्म में अपार शक्ति है। वह सदा सत्यरूप है। सत्य एक है। धर्म उसी सत्य का दूसरा नाम है। इसीलिए महाभारत में कहा है कि जो सत्य है, वही धर्म है। जो धर्म है, वही प्रकाश है और जो प्रकाश है, वही सुख है। इसके विपरीत जो अनृत है, वही अधर्म है। जो अधर्म है, वही अन्धकार है और जो अन्धकार है, वही दुःख है। निम्न वचन में यही बात कही गई है—''तत्र यत् सत्यं स धर्मः, यो धर्मः स प्रकाशः, यः प्रकाशस्तत् सुखमिति। तत्र यदनृतं सोऽधर्मः योऽधर्मस्तत् तमः, यत् तमस्तद् दुःखमिति'' (शान्ति० १९०.५)। सत्य के सामने असत्य कभी भी ठहर नहीं सकता। सत्य के अन्दर जगत् का अस्तित्व, ऐश्वर्य, स्थिरता, क्रममुक्ति आदि सब निर्भर है। इसीलिए मनुष्यमात्र में स्थित धर्म को सत्य नियन्त्रित करता है। अतः धर्म का अतिक्रमण करना मनुष्य के लिए विनाशकारी है।

मनुष्य जो भी अपराध करता है, वह सब बुद्धि की कमी के कारण ही करता है। प्रज्ञा (बुद्धि)-दोष के नाम से यह शास्त्रों में प्रसिद्ध है। बुद्धि की कमी का कारण पाप है। पाप का आचरण करने से मनुष्यों की बुद्धि में मन्दता आ

जाती है, क्योंकि पाप मनुष्य की बुद्धि को मलिन कर देता है। बुद्धि की मलिनता से ही मानव-मन में अज्ञान और तज्जन्य सब दोष उत्पन्न होते हैं। महाभारत के इस वचन को देखिये—

पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः।
नष्टप्रज्ञः पापमेव पुनरारभते नरः॥

(उद्योग० ३५.७३)

यहाँ बताया गया है कि बार-बार किये जाने वाले पाप बुद्धि को नष्ट कर देते हैं। जिसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह मनुष्य निरन्तर पाप ही करता रहता है। पाप के कारण ही मनुष्य संसार में विविध आसुरी योनियों में घूमते रहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्त्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु॥

भगवद्गीता के इस वचन में यही बात कही गई है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी दुर्गति को बचाने के लिए प्रज्ञादोष से मुक्त हो यथाविधि धर्म का आचरण करे।

धर्म को केवल जान लेने से उसका लाभ नहीं मिलता, लाभ तो होता है, उसके प्रत्यक्ष आचरण से। धर्म का यदि आचरण न किया जाय, केवल उसका ज्ञान भर कर लिया जाय, तो ऐसा कोरा ज्ञान दुःख का कारण बनता है। अभिप्राय यह है कि धर्म का वास्तविक फल केवल उसके ज्ञानमात्र से ही नहीं, अपितु उसका आचरण करने से मिलता है। जो मनुष्य धर्म का स्वयं आचरण नहीं करता, उसके सभी मनोरथ स्वप्न में राज्यप्राप्ति के समान निष्फल हो जाते हैं। मनुस्मृति (६.६७) में बताया गया है कि कतक वृक्ष के फल से जल की गन्दगी दूर हो जाती है, किन्तु उसका नाम लेने से जल शुद्ध नहीं होता। इसके लिए तो उसे जल में मिलाना पड़ता है। स्पष्ट है कि निर्मल मन से धर्म का आचरण करने से ही मानव उसके शुभ फल को प्राप्त कर सकता है।

समग्र धर्म का आचरण कर पाना एक कठिन काम है। धर्म का आचरण करने वाले को यह समझ लेना चाहिए कि वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही धर्म का आचरण करे। जिस धर्माचरण से अपनी स्थिति दयनीय हो जाय, ऐसा करना अच्छा नहीं होता। अतः मनुष्य को बिना समझे-बूझे अपने और अपने परिवार के लिए कष्टदायक धर्मानुष्ठान उचित नहीं माना जाता। श्रीमद्भागवत का तो यह भी कहना है कि त्रिवर्ग के सेवन से यदि केवल अपने को सुख मिलता हो, किन्तु स्वजनों को कष्ट होता है, तो ऐसे त्रिवर्ग का, धर्म, अर्थ और काम का सेवन हितकारी नहीं है (१०.५.२८)। इसका अभिप्राय यह है

कि अपनी शक्ति और परिवार की सुख-शान्ति को ध्यान में रखकर ही व्यक्ति को धर्म का आचरण करना चाहिए।

सकाम-भाव और निष्काम-भाव से धर्म का अनुष्ठान किया जाता है। सकाम-भाव से आचरित धर्म को प्रवृत्ति धर्म एवं निष्काम-भाव से की गई धार्मिक प्रवृत्ति निवृत्ति-धर्म कहलाती है। मनुष्य को पहले प्रवृत्ति-धर्म का और बाद में निवृत्ति-धर्म का सेवन करना चाहिए। प्रवृत्ति-धर्म के अनुष्ठान से अभ्युदय की और निवृत्ति-धर्म के अनुष्ठान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

इतना ही नहीं धर्म के आचरण से मनुष्य में प्रताप, प्रभाव, नीति, शौर्य, शक्ति, औदार्य आदि सद्गुणों का प्रादुर्भाव होता है। धर्म के प्रभाव से मनुष्यों के दुर्व्यसन, दीनता, दौर्भाग्य जैसे दोष भी दूर हो जाते हैं। धर्म में एक यह भी विशेषता है कि उसके उपार्जन में किसी सहायक की आवश्यकता नहीं पड़ती। केवल शास्त्र की पद्धति से उसका आचरण करना पर्याप्त है—

एक एव चरेद् धर्मं नास्ति धर्मे सहायता।
केवलं विधिमासाद्य सहायः किं करिष्यति॥

(महा० शान्ति० १९३.३२)

२. अर्थ

द्वितीय पुरुषार्थ का नाम अर्थ है। जिसके द्वारा मनुष्य के इस लोक और परलोक के समस्त प्रयोजन सिद्ध होते हैं, उसको **अर्थ** कहते हैं। अर्थ मानव जाति के भोग, आरोग्य और धर्म का प्रमुख साधन है। इसी से अर्थ की ओर सबकी प्रवृत्ति होती है। आचार्य चाणक्य ने कहा है—''अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः'' (चा० ७.२८)। अर्थ शब्द का अर्थ है—अभिलषित वस्तु। इसीलिये अर्थ को सभी प्राप्त करना चाहते हैं और इसके अर्थ नाम की सार्थकता भी है। अर्थ को प्राप्त करने की अभिलाषा सब क्यों करते हैं? इसका कारण चाणक्य यह बताते हैं कि प्राणियों की सुख-समृद्धि का मूल धर्म है और इस धर्म का मूल है—अर्थ—''सुखस्य मूलं धर्मः, धर्मस्य मूलमर्थः''। आचार्य कौटल्य ने त्रिवर्ग में अर्थ को इसलिए प्रधान माना है कि अर्थ ही धर्म और काम का मूल है। इसकी चर्चा पहले आ चुकी है।

अर्थ उस वस्तु कहते हैं, जिससे मनुष्यों की जीविका चल सके। अर्थ पर ही सबकी जीविका निर्भर है। अर्थ का मूल है वृत्ति, अर्थात् आजीविका। अर्थ पर ही धर्म और काम निर्भर हैं— ''वृत्तिमूलमर्थः, अर्थमूलौ धर्मकामौ'' (चाणक्य० १.८९-९०)। इस दृष्टि से भूमि, धन, द्रव्य, विद्या, कला, कृषि, पशुपालन आदि सभी वस्तुओं को **अर्थ** कहा जाता है। अर्थ, द्रव्य और धन पर्यायवाची शब्द हैं।

कामसूत्रकार वात्स्यायन ने विद्या, भूमि, सोना-चाँदी, पशु, धन-धान्य, वर्तन-भाण्ड, लकड़ी, लोहे का सामान , ओढ़ना-बिछौना, अर्थात् घर-गृहस्थी का सारा सामान एवं मित्र-सम्पत्ति का अर्जन और इन सबकी वृद्धि—इन सबका अर्थ में समावेश किया है। इसकी भी चर्चा की जा चुकी है। महाभारत (शान्ति० १६७.११) में इन सभी साधनों का समावेश वार्ता में किया गया है। संसार कर्मभूमि है, अतः जीविका के साधक कर्मों की—कृषि, वाणिज्य, गोपालन, विविध शिल्प आदि की यहाँ प्रशंसा होती है, क्योंकि ये सब अर्थ-प्राप्ति के साधन हैं। अर्थ ही समस्त कर्मों की मर्यादा के पालन में सहायक होता है। अर्थ के बिना धर्म और काम सिद्ध नहीं होते, पर यह केवल शास्त्र का वचन ही नहीं है, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिदिन इसका हम अनुभव करते हैं।

अर्थ में भूमि का विशेष महत्त्व है, क्योंकि धन-धान्य, वस्त्र, गृह, सम्पत्ति आदि समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों की उत्पत्ति भूमि से होती है। भूमि सकल प्राणियों का सुस्थिर आधार है। अतः मुख्य अर्थ भूमि है। आचार्य कौटल्य ने अन्य सब वस्तुओं की अपेक्षा भूमि की ही सर्वाधिक महिमा गाई है, अतः भूमि के अतिरिक्त अन्य सब वस्तुएँ गौण अर्थ है। शुक्रनीति (१.७८-७९) में बताया गया है कि यह भूमि सम्पूर्ण मानव-जाति की सुखों की खान है। इसी के लिए देवता और दैत्य भी लड़ते रहे हैं। इसी के लिए बड़े-बड़े भूमिपति अपना सर्वस्व नष्ट कर देते हैं। जो व्यक्ति अपने उपभोग के लिए धन और जीविका की तो सुरक्षा करता है, परन्तु अपनी भूमि को सुरक्षित नहीं रखता, उसका धन और जीविका समय आने पर व्यर्थ हो जाते हैं। भूमि से उत्पन्न होने वाले धान्य आदि से ही सब लोग जीते हैं। इसीलिए शास्त्रों में बताया गया है कि धान्य से बढ़कर अन्य कोई अर्थ नहीं है—"नहि धान्यसमो अर्थः" (चाणक्य० ४.८३)। वेदों में भी "अन्नं बहु कुर्वीत" कह कर अन्न को बढ़ाने का उपदेश दिया गया है।

भूमि के साथ कृषि जुड़ी हुई है। मनुष्य यदि धर्मानुसार कृषि-कार्य करता है, तो फिर कृषि से बढ़कर न कोई धर्म है और न कोई लाभ है और इससे बढ़कर कोई सुख-साधन भी नहीं है। पराशरस्मृति (५.१८४-१८५) में कृषि की महिमा इस प्रकार गाई गई है—

कृषावुत्पाद्य धान्यानि खलयज्ञं समाप्य च।
सर्वसत्त्वहिते युक्त इहामुत्र सुखी भवेत्॥
कृषेरन्यत्र नो धर्मो न लाभः कृषितोऽन्यतः।
सुखं न कृषितोऽन्यत्र यदि धर्मेण वर्तते॥

प्राणियों के हित को दृष्टि में रखते हुए धर्मानुसार यथोचित रीति से कृषि-कर्म के द्वारा अन्न का उत्पादन करके खलिहान में अन्न के आने पर देवार्चन, अतिथि-सत्कार, अन्नदान आदि करना चाहिए। शास्त्रों में कृषि को सर्वश्रेष्ठ वृत्ति और चाकरी को निकृष्ट माना गया है। कृषि के साथ ही पशुपालन का भी अपना महत्त्व है। गाय, भैंस आदि का पालन करने वाले को कभी भी अतिथि-सत्कार से वंचित नहीं होना पड़ता। ये सब कार्य भूमि से जुड़े हुए हैं। स्पष्ट है कि अर्थागम की दृष्टि से इसका सर्वोपरि महत्त्व है। उसके यहाँ अन्न और वस्त्र का कभी अभाव नहीं रहता।

जागतिक व्यवहार में अर्थ का बहुत महत्त्व है। देवर्षि नारद का कहना है कि मनुष्यों की सारी क्रियाएँ अर्थमूलक हैं, अत: इसके उपार्जन में मनुष्य को सदा लगे रहना चाहिए—"अर्थमूला: क्रिया: सर्वा यत्नस्तस्यार्जने मत:"। शुक्राचार्य का भी कहना है कि निर्धन मनुष्य चाहे कितना ही गुणवान् क्यों न हो, तो भी उसके स्त्री, पुत्र आदि उसका आदर नहीं करते। यत: जागतिक व्यवहार के लिए धन का बहुत महत्त्व है। अत: मनुष्य को अच्छे उपायों के सहारे साहस के साथ धनार्जन में लगे रहना चाहिए—जिस प्रकार पर्वतों से अनेकों झरने और नदियाँ निकलती है, वैसे ही न्यायोपार्जित अर्थ को भली-भाँति बढ़ाकर उसे उपयोगी कर्मों में लगा देने पर नाना प्रकार की धार्मिक प्रवृत्तियाँ फलवती होती हैं। इसलिए अर्थ का उपार्जन, संवर्धन, संरक्षण एवं सदुपयोग नियमपूर्वक करते रहना चाहिए। मनुस्मृति (१०.११६) में अर्थोपार्जन के ये दस साधन बताये गए हैं—१. विद्या, २. शिल्प, ३. नौकरी, ४. सेवा, ५. पशुपालन, ६. व्यापार, ७. कृषि, ८. सन्तोष, ९. भिक्षा और १०. व्याज। चारों वर्णों को इनका यथोचित विनियोग करना चाहिए। अर्थ से परोपकार आदि के द्वारा पुण्योपार्जन करना परलोक के लिए भी हितकर होता है। अर्थ की सहायता से धर्मानुष्ठान कर व्यक्ति उत्तम सुख प्राप्त करता है।

अर्थ का झुकाव धर्म और काम, इन दोनों ही पुरुषार्थों की ओर रहता है, अत: यह इन दोनों का मूल है। जैसे नदी अथवा नहर से उसके अगल-बगल दोनों ही तरह जल की नालियाँ निकलती हैं, जिनसे दोनों ही किनारों की भूमि हरी-भरी रहती है, उसी तरह अर्थ भी, धर्म और काम दोनों पुरुषार्थों की ओर चलता हुआ इनको परिपुष्ट करता है। इस तरह से अर्थ धर्म और काम का प्राण है। बिना अर्थ के न तो धर्म ही सिद्ध हो सकता है और न काम ही सफल हो सकता है। अत: धर्म और अर्थ का मूल काम ही है। त्रिवर्ग की गणना में अर्थ को धर्म और काम के मध्य में रखा गया है, अत: देहली-दीपक न्याय से इसका

दोनों से समान रूप से संबन्ध होते हुए भी ''धनाद् धर्मं ततः सुखम्'' इस उक्ति के आधार पर वास्तविक फल धर्म ही है, काम उसका गौण फल है। अतः अर्थ का उपार्जन करके उसका विनियोग धर्म में न कर केवल कामोपभोग में ही उसका उपभोग करना अमूल्य मणि को छोड़कर निःसार काच को ग्रहण करने जैसी मूर्खता है।

अर्थ का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह सब गुणों एवं गुणीजनों के आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। अर्थ वालों के पास व्यक्ति किंकरों की तरह दौड़-दौड़कर स्वयं पहुँच जाते हैं। अर्थवान् मनुष्यों के दोष भी गुण बन जाते हैं, अर्थात् छिप जाते हैं। इसी से शास्त्रों में अर्थ की बड़ी महिमा गाई गई है। यहाँ तक कह दिया गया है कि बड़े-बड़े विद्यावृद्ध, तपोवृद्ध और वयोवृद्ध पुरुष भी धनवृद्ध के दरवाजे पर किंकरों के समान हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। इस संसार में अर्थ से सब कुछ सुलभ हो जाता है। शुक्रनीति कहती है—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
अतोऽर्थाय यतेतैव सर्वदा यत्नमास्थितः॥

अर्थ पुरुष का दास नहीं है, पुरुष ही अर्थ का दास है, इस बात को भीष्म पितामह ने भी युधिष्ठिर के सामने स्वीकार किया है। चाणक्य का तो यहाँ तक कहना है कि निर्धन व्यक्ति के हितकारी वचन को भी कोई ग्रहण नहीं करता— ''हितमप्यधनस्य वाक्यं न गृह्यते'' (४.५९)।

निर्धन मनुष्य निराश एवं असहाय हो जाता है। धन और बान्धव से हीन मनुष्य के लिए नगर की भूमि भी सुनसान बन जाती है। और श्रीमान् के लिए भयंकर वन भी राजधानी बन जाता है। हितोपदेश में उपलब्ध इस वचन में दारिद्र्य का हृदयहारी वर्णन मिलता है—

दारिद्र्याद् ह्रियमेति ह्रीपरिगतः सत्त्वात् परिभ्रश्यते
निःसत्त्वः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते।
निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम्॥

अर्थात् निर्धनता से मनुष्य को लज्जा आती है, लज्जा से बल क्षीण हो जाता है, निर्बल का सभी लोग तिरस्कार करते हैं, अपमान होने पर व्यक्ति खिन्न हो जाता है, खिन्न (परेशान) व्यक्ति शोक में डूब जाता है, शोकाकुल व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, बुद्धि भ्रष्ट हो जाने पर मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है। इस तरह से निर्धनता मनुष्य की समस्त आपत्तियों की जड़ है। यहाँ कवि ने छन्द के अनुरोध से निर्धनता के स्थान पर निधनता पद का प्रयोग किया है। व्याकरणशास्त्र में निस्

और निर् के समान नि उपसर्ग की भी स्थिति मान्य है, किन्तु निधन शब्द का प्रयोग मृत्यु के अर्थ में भी किया जाता है। चाणक्यसूत्र में—"दारिद्र्यं खलु पुरुषस्य मरणम्" (४.३४) इस तरह से द्रारिद्र्य की मरण से तुलना की गई है। उक्त श्लोक का निधनता शब्द इस स्थिति इसकी भी सूचना देता है।

जीवित अवस्था में ही इस मरण-तुल्य स्थिति से बचने के लिए अर्थागम की चिन्ता अपेक्षित है। अर्थ का आगम होते रहने से मनुष्यों को जल्दी से बुढ़ापा नहीं घेरता, क्योंकि अर्थ में ऐसा बल है कि वह मनुष्यों की गई हुई जवानी को फिर से लौटा ले आता है। इसीलिए मनुष्य-लोक के छः सुखों में अर्थागम को पहला स्थान दिया गया है—

अर्थागमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥

अर्थात् १. अर्थागम, २. सदा नीरोगता, ३. प्रिया पत्नी, ४. प्रियवादिनी पत्नी, ५. आज्ञाकारी पुत्र और ६. अर्थकरी विद्या—ये छः इस जीवलोक के सुख माने गये हैं। सारे कार्य यहाँ अर्थ की सहायता से होते हैं, अतः प्रत्येक जन को अपने परिश्रम से अर्थ का उपार्जन अवश्य करना चाहिए।

अर्थागम के लिए सर्वाधिक अपेक्षा है विनय की। विनय को ही शील भी कहते हैं। इस विनय की प्राप्ति विद्या से होती है। कहा भी गया है—

विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद् धर्मं ततः सुखम्॥

विनय का लक्षण है—जितेन्द्रियता, अर्थात् इन्द्रिय-संयम। यह समस्त पुरुषार्थों की प्राप्ति का मूल है। इसीलिये मनुस्मृति (२.१००) में कहा गया है कि मनुष्य अपने मन और इन्द्रियों को सरलता से वश में करके सब पुरुषार्थों को प्राप्त कर सकता है—

वशीकृत्येन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान् संसाधयेदर्थान् अक्षिण्वन् योगतस्तनुम्॥

अर्थागम (अर्थ की प्राप्ति) के लिए विनय के समान ही उद्योग भी अपेक्षित है। यह वचन बहुत प्रसिद्ध है कि उद्योगी पुरुष श्रेष्ठ को लक्ष्मी प्राप्त होती है—"उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः"। अर्थ की प्राप्ति का मूल कारण उद्योग है। अतः विद्योपार्जन के अनन्तर अपनी योग्यता के अनुसार मानव को उचित पद्धति से अर्थोपार्जन में लग जाना चाहिए। उद्योग करते हुए भी मनुष्य यदि गुणी नहीं है, तो उसे अर्थ प्राप्त नहीं होता। सम्पत्ति गुणवान् को ही मिलती है। अतः पहले विद्या और विनय का संपादन कर अपने में गुणों का आधान कर तब अर्थोपार्जन के लिए उद्योग करना चाहिए। उद्योगी पुरुषों को आजीविका का भय नहीं रहता। अतः

आलस्य को त्याग कर, उत्साह से सम्पन्न होकर भाग्य और ईश्वर पर विश्वास रखते हुए जो व्यक्ति उद्योगशील होता है, लक्ष्मी स्वयं खोजकर उसका वरण कर लेती है। अत: उद्योगी पुरुष को भाग्य के भरोसे नहीं बैठना चाहिए।

उद्यम करने पर भी भाग्य में न होने पर कभी-कभी गुणवान् व्यक्ति को भी सफलता नहीं मिलती। इस स्थिति में उसे अपने भाग्य को नहीं कोसना चाहिए। जो ऐसा करता है, उसे ऊँची विभूति नहीं मिल पाती, अत: अपने भाग्य का अपमान व्यक्ति को कभी नहीं करना चाहिए। मनुस्मृति (४.१३७) में भी बताया गया है कि मनुष्य को अपनी पहले की असमृद्धि, असफलता को देखकर अपने को भाग्यहीन समझ कर कभी भी अपना अपमान नहीं करना चाहिए। यानी अपने भाग्य को कभी भी कोसना नहीं चाहिए और अर्थ को दुर्लभ नहीं मानना चाहिए। उसे मरते दम तक अर्थ की प्राप्ति के लिए सदा उद्यम करते रहना चाहिए। मनुस्मृति में ही कहा है—"वकवच्चिन्तयेदर्थान्" (७.१०६) अर्थात् बगुले के समान ध्यानमग्न होकर अर्थोपार्जन में लग जाना चाहिए।

वैसे तो न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित किसी भी रीति से अर्थोपार्जन हो सकता है, परन्तु अन्याय से उपार्जित धन अशुद्ध होता है, अनुचित मार्ग को अपनाने के कारण उसका उपार्जक अधर्म से निगृहीत हो जाता है। धनार्जन एवं कामोपभोग की लालसा और उसके लिए प्रयत्न करना मनुष्यों के लिए स्वाभाविक है, परन्तु उन्हीं को मनुष्य-जीवन का मुख्य लक्ष्य मान लेने पर उसके लिए झूठ बोलना, चोरी करना, धोखा देना, हिंसा करना जैसे दुराचारों में प्रवृत्ति होने लगती है। जनता में इस तरह के दुराचारों की वृद्धि होने पर लोक-स्थिति बिगड़ने लगती है। इसीलिए मानव-समाज के लिए यह आवश्यक है कि अर्थ और काम को धर्म-संगत रीति से प्राप्त किया जाय, अधर्म मार्ग से कथमपि नहीं, क्योंकि इन सब में धर्म ही प्रधान है, अत: धर्म के अनुसार ही अर्थोपार्जन करना ठीक है।

शुद्ध अर्थ को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अर्थ का पात्र बनना चाहिए। पात्र बनने के लिए विद्या, विनय और सदाचार की अपेक्षा रहती है। विद्या के बिना सत्-असत्, उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं हो पाता। इसी तरह विनय और सदाचार के बिना व्यक्ति अर्थ की सुरक्षा और उसका यथोचित विनियोग नहीं कर सकता। इसीलिए महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है कि केवल विद्या अथवा केवल तप से व्यक्ति अर्थ का पात्र नहीं हो पाता। जहाँ ये गुण समान रूप से विद्यमान रहते हैं, वहीं अर्थ की पात्रता को धारण कर पाता है—

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम्॥

(याज्ञ० स्मृति, आ० २००)

विद्या और तप से सम्पन्न अर्थ की पात्रता को धारण करने वाला व्यक्ति अर्थ की शुद्धता पर विशेष रूप से अपना ध्यान केन्द्रित करता है। अशुद्ध अर्थात् मलिन धन के संग्रह के लोभ का संवरण करना पड़ता है। अर्थागम के बढ़ने से अधिक लाभ के होने से मनुष्य की तृष्णा बढ़ती जाती है। लाभ लोभ को बढ़ा देता है। लोभी मनुष्य धन का संग्रह करते-करते पहले की अपेक्षा ऊँची आर्थिक स्थिति को प्राप्त करके भी कभी तृप्त नहीं होता, वह और अधिक की आशा लिए मर जाता है। इसके विपरीत विद्वान् व्यक्ति सदा सन्तुष्ट रहता है, वह तृष्णा को बढ़ाने वाले लोभ से सदा मुक्त रहता है।

इसके विपरीत साधारण जन लोभ में पड़कर अशुद्ध अर्थ के अर्जन में लग जाते हैं, जो सारे दु:खों का मूल है। अशुद्ध मार्ग से, अर्थात् अन्याय, छल-कपट, प्रतारण जैसे दुष्कर्मों से दूसरों को कष्ट देकर अनुचित मार्ग से जो अर्थ अर्जित किया जाता है, वह अशुद्ध अर्थ कहलाता है। ऐसे मलिन अर्थ से व्यक्ति को न तो धर्म ही प्राप्त हो सकता है और न सुख ही। यह धन जिस तरह से आता है, उसी तरह चला भी जाता है। इसलिए मनुष्य को लोभ में पड़कर अशुद्ध मार्ग से अर्थोपार्जन का प्रयत्न कभी नहीं करना चाहिए। अशुद्ध रीति से, अनुचित मार्ग से अर्थोपार्जन करना और उसका उपभोग करना दूसरों के प्राणों का भक्षण करना है, अत: मनुष्य को चाहिए कि वह उचित मार्ग न्याय से जितना प्राप्त हो सके, उसी में सन्तोष करे, अन्यथा वह अन्यायोपार्जित धन उसके लिए नाना प्रकार के दु:खों का ही कारण बनेगा।

अर्थ मनुष्य का बाह्य प्राण माना जाता है, परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो ज्ञात होगा कि अर्थ तो उसके लिए प्राणों से भी बढ़कर है। चोर, सेवक और व्यापारी अर्थ के लिए अपने प्रिय प्राणों की भी बाजी लगा कर उसका संग्रह करते हैं। स्पष्ट है कि धन लोगों के प्राणों से भी अधिक वांछनीय है। इसलिए अर्थ की तृष्णा को भला कौन त्याग सकता है? किन्तु यह स्थिति उचित नहीं है। अर्थ की सुरक्षा की जाय, मूल धन की वृद्धि की जाय, यह तो ठीक है, किन्तु अर्थ का सदुपयोग कैसे हो, इस पर भी ध्यान देना जरूरी है। योग्यतम सत्पात्र के प्राप्त होने पर श्रद्धापूर्वक अपने धन का सदुपयोग व्यक्ति को करना ही चाहिए, अन्यथा व्यक्ति अर्थ तृष्णा में पड़ कर अपना सर्वनाश कर बैठता है। अर्थ के इस सदुपयोग के श्रीमद्भागवत (८.१९.३७) के अनुसार पाँच प्रकार हैं—

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते॥

अर्थात् १. धर्म के लिए, २. यश के लिए, ३. धन की अभिवृद्धि के लिए, ४. कामोपभोग के लिए और ५. अपने स्वजनों के लिए, अपने धन को पाँच भागों में बाँट कर रखने वाला व्यक्ति इस लोक में और परलोक में सुख पाता है। अतः अर्थ-तृष्णा को त्याग कर व्यक्ति को शास्त्रोक्त पद्धति से अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय इस अर्थ का सदुपयोग करना चाहिए।

अर्थ ऐसा होना चाहिए, जो धर्मानुबन्धी के साथ अर्थानुबन्धी भी हो। जिस अर्थ से धर्म-कार्य सम्पन्न होते रहें, उस अर्थ को धर्मानुबन्धी कहते हैं। धर्मानुबन्धी अर्थ मोक्षप्राप्ति में सहायक होता है। जिस अर्थ से अर्थ का उद्गम बराबर होता रहे, वह अर्थानुबन्धी अर्थ है। नीतिवाक्यामृत में बताया गया है कि जो मनुष्य अर्थानुबन्धी उपायों के द्वारा अर्थ का अर्जन करता है, उसी के पास अर्थ पहुँचता है। अलब्ध अर्थ को उद्योग की सहायता से प्राप्त करना, प्राप्त हुए अर्थ की रक्षा करना, रक्षित अर्थ की व्याज आदि के माध्यम से वृद्धि करना, परिवर्धित अर्थ का तीर्थों में, अर्थात् सत्पात्रों एवं सत्कर्मों में उपयोग करना—ये सब उपाय अर्थानुबन्धी कहलाते हैं।

अर्थतृष्णा का परित्याग करने पर ही यह सब संभव हो सकता है। इस प्रसंग में व्यक्ति के लिए संतोष भी परम आवश्यक गुण है। व्यक्तिं को निर्धनता और समृद्धि, दोनों ही स्थितियों में सन्तुष्ट रहना चाहिए। सन्तोष के बिना मनुष्य को सुख नहीं मिल सकता। इसके अभाव में वह धर्म-कार्य में प्रवृत्त भी नहीं हो सकता। उपभोग से काम का अन्त हो जाता है। क्रोध भी अपना काम पूरा हो जाने पर शान्त हो जाता है। लेकिन मनुष्य यदि सारी पृथ्वी को जीत ले और भोग ले, तब भी लोभ का अन्त नहीं होता। इसलिए अर्थार्जन के साथ-साथ मन में सन्तोष का होना जरूरी है, अर्थात् अपनी समृद्ध अथवा हीन दोनों ही स्थितियों में व्यक्ति का एकरस रहना भी जरूरी है। उसी स्थिति में वह अर्थ का सदुपयोग करने में समर्थ हो सकता है।

सन्तोष के माध्यम से ही व्यक्ति अर्थ-मद से भी मुक्त हो सकता है। अर्थ का सबसे बड़ा दोष है—मद, अर्थात् अहंकार। 'मैं धनी हूँ' इस प्रकार का गर्व ही धन का मद कहलाता है। मद से फूला हुआ मनुष्य दूसरों को तुच्छ समझ कर पतन की ओर ही बढ़ता है। धन के मद से जब मनुष्य पागल हो जाता है, तो फिर उसको अपनी दुष्कीर्ति (अपयश) का भी भय नहीं रह जाता। अतः इस प्रकार के मद से व्यक्ति को मुक्त रहना चाहिए। भागवतकार (११.२३.१८-१९) ने चोरी , हिंसा, अनृत, दंभ, काम, क्रोध, अहंकार, मद आदि अर्थ के १५ दोषों का परिगणन किया है। धार्मिक व्यक्ति को इन सब दोषों से दूर रहना चाहिए।

अर्थ और धर्म के परस्पर आनुकूल्य से ही यह संभव हो सकता है। इस तरह के सभी आर्थिक दोषों से बचने के लिए ही भारत की वर्णाश्रम-व्यवस्था में अर्थ को धर्मानुकूल बनाने के लिए धर्म और अर्थ के पारस्परिक विरोध का परिहार कर अर्थ को धर्म का तथा धर्म को अर्थ का पूरक स्रोत बना दिया है। स्पष्ट है कि धर्मानुकूल अर्थ में इस तरह के दोषों की प्रवृत्ति नहीं होती। जो अर्थ धर्म से युक्त हो और जो धर्म अर्थ से सम्पन्न हो, वह निश्चय ही अमृत के समान है। अतः मनुष्य अपने मन को मद आदि से मुक्त रख कर जीवन में धर्म को प्रधानता देता हुआ धर्माचरण के साथ अर्थोपार्जन करे।

धन को प्राण से भी प्रिय मानने वालों में दान की प्रवृत्ति का होना आवश्यक है। मनुष्य के द्वारा उपार्जित अर्थ के भागी केवल परिवार के सदस्य ही नहीं होते, किन्तु देवता, ऋषि, पितृगण, बन्धु-बान्धव, दीन, अनाथ, पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि सभी जीव इसके भागीदार माने गये हैं। इन सबके अनुग्रह से प्राप्त धन को यथाशक्ति सबको समर्पित कर अवशिष्ट अन्न का गृहस्थ को उपभोग करना चाहिए। भारतीय संस्कृति में त्याग का, दान का अत्यधिक महत्त्व है। अर्थ की जो तीन गतियाँ बताई गई हैं, उनमें दान का पहला स्थान है। अर्थ का उपभोग उसकी दूसरी गति है। जिस धन का दान और उपभोग नहीं होता, वह नष्ट हो जाता है। यह उसकी तीसरी गति है। दान के साथ प्रियवचन का होना भी जरूरी है, अन्यथा दान निष्फल हो जाता है।

कृपणता दान और प्रियवचन इन दोनों का बाधक तत्त्व है। कृपण व्यक्ति अपने धन को न किसी को देता है और न उसका उपभोग ही कर पाता है। फलतः उसके धन की तीसरी गति बनती है, अर्थात् उसका धन व्यर्थ में नष्ट हो जाता है। अतः धार्मिक व्यक्ति को कृपणता का पूरी तरह से परित्याग करना चाहिए। कृपणता के विपरीत अर्थ की अवहेलना करना, आई हुई लक्ष्मी का अपमान करना भी ठीक नहीं है। दान न देने वाला और दान लेने का अधिकारी होते हुए भी दान न लेने वाला—ये दोनों ही दुराग्रही हैं, मूढ़ हैं, शोचनीय हैं।

अभी कहा गया है कि अर्थ मनुष्य को प्राणों से भी प्रिय है। अतः धनोपार्जन के बाद व्यक्ति को उसके अपव्यय से बचना चाहिए। दुर्व्यसनों की पूर्ति में और लोक-विनाशक भयंकर अस्त्रों के निर्माण में अर्थ का अपव्यय ही होता है। अर्थ की सार्थकता इसी में है कि उसे अधिकाधिक धर्म कार्य में और दीन-दुःखियों की सहायता में लगाया जाय, अतः व्यक्ति को इस नीतिवाक्य का पालन करना चाहिए—

संरक्षयेत् कृपणवत् काले दद्याद् विरक्तवत्।

अर्थात् कृपण की तरह अर्थ की रक्षा करे और समय आने पर विरक्त के समान धन का सदुपयोग करे। अन्त में एक श्लोक को उद्धृत कर हम इस प्रकरण को पूरा करते हैं—

माता निन्दति नाभिनन्दति पिता भ्राता न सम्भाषते
भृत्यः कुप्यति नानुगच्छति सुतः कान्ता च नालिङ्गते।
अर्थप्रार्थनशङ्कया न कुरुते सम्भाषणं वै सुहृत्
तस्माद् द्रव्यमुपार्जयस्व सुमते द्रव्येण सर्वे वशाः॥

यहाँ बुद्धिमान् व्यक्ति को अर्थोपार्जन की सलाह दी गई है कि सभी इसके वश में रहते हैं। अर्थ के अभाव में माता निन्दा करती है, पिता प्रसन्न नहीं रहते, भाई बोल-चाल बन्द कर देता है, नौकर भी क्रुद्ध हो जाता है, पुत्र उसकी बात नहीं सुनता, पत्नी उससे स्नेह नहीं करती और मित्र भी उसके साथ बातचीत इसलिए नहीं करता कि कहीं वह उधार न माँग बैठे।

यह है जीवन में अर्थ के महत्त्व का एक चित्र।

३. काम

तीसरे पुरुषार्थ का नाम काम है। जिस प्रकार धर्म और अर्थ, ये दोनों पुरुषार्थ लोक-स्थिति के मुख्य साधन होने से परम उपादेय हैं, उसी तरह काम भी प्राणियों की लोकयात्रा में उपयोगी सुख-सामग्रियों का मुख्य साधन होने से अत्यन्त उपादेय है। काम के बिना प्राणियों की उत्पत्ति, जीवन-निर्वाह एवं सुख की प्राप्ति ही असंभव है।

"काम्यते इति कामः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार विषय और इन्द्रियों के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली सामान्य इच्छा ही काम है। हम लोगों के अपेक्षित कार्यों को करने के लिए ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ हमारी सहायता करती हैं। आँख, कान, नासिका, रसना और त्वचा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और हस्त, पाद, वाक्, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ कहलाती हैं। इन दसों इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाले सामान्य एवं विशेष काम की चर्चा वात्स्यायन के कामसूत्र के आधार पर की जा चुकी है। यह काम चित्त का एक संकल्प है। इसका स्वरूप अत्यन्त ही जटिल है। महाभारत का कहना है—

द्रव्यार्थस्पर्शसंयोगे वा प्रीतिरुपजायते।
स कामश्चित्तसङ्कल्पः शरीरं नास्य दृश्यते॥ (वन० ३३.३)

अर्थात् पुष्पमाला, चन्दन, वनिता आदि प्रिय पदार्थों के स्पर्श एवं सुवर्ण आदि का संयोग (लाभ) होने का मन में जो एक विशेष प्रकार की प्रीति उत्पन्न होती है, चित्त का यह एक विशेष प्रकार का संकल्प ही काम है। उसका रूप (आकार) हम देख नहीं पाते।

"काम्यन्ते इति कामा:" इस व्युत्पत्ति के अनुसार शरीर और इन्द्रियों के उपभोग्य स्त्री, पुत्र, गृह, क्षेत्र, धन-धान्य, फल-फूल, भक्ष्य-भोज्य, लेह्य-चोष्य, पेय, नृत्य, गीत, वस्त्र, अलंकार आदि सभी ऐहलौकिक एवं पारलौकिक अभिलषित पदार्थ काम की परिधि में आते हैं। अणिमा आदि सिद्धियों को भी हम काम का ही अंग जानेंगे। स्पष्ट है कि इस व्युत्पत्ति के अनुसार विषयों के उपभोग से प्राप्त होने वाला आनन्द और उसके साधन, इन दोनों को ही काम कहते हैं। साथ ही "कामितं काम:" इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्राणियों को इस सुख और सुखोपभोग्य की सामग्री के संपादन के लिए प्रेरित करने वाला मानसिक संकल्प भी काम है। इस प्रकार इच्छा, कामना, वासना, स्पृहा, तृष्णा, एषणा, मनोरथ, सुख और सुख के सभी साधन काम के ही अन्तर्गत आते हैं, उसी के विविध स्वरूप हैं।

काम की ओर प्राणियों की प्रवृत्ति स्वत: हो जाती है, अत: इसके लिए किसी विधान की अपेक्षा नहीं है। इसीलिए शास्त्रों में कहीं भी इसका विधान नहीं मिलता, प्रत्युत रागत: प्राप्त गलत प्रवृत्तियों को रोकने के लिए, नियमों में मर्यादित करने के लिए विवाह आदि का विधान किया गया है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य को काम सर्वाधिक प्रिय क्यों है? अर्थात् मनुष्य की प्रवृत्ति काम की ओर इतनी अधिक क्यों है? इसका समाधान यह है कि संसार में मुख्य रूप से दु:ख की निवृत्ति तथा सुख की प्राप्ति ही पुरुषों को अभ्यर्हित होती है। संसार में सब वस्तु सुख के लिए है, सुख किसी अन्य के लिए होता है। इसी तरह सब वस्तु आत्मा के लिए है, आत्मा किसी अन्य के लिए नहीं है। इस तरह से सुख और आत्मा का एक ही लक्षण होने से इनकी एकता है। सुख एवं आत्मा दोनों ही निरुपाधिक एवं निरतिशय प्रेम के आस्पद माने जाते हैं। सुख सबको स्वभावत: प्रिय है, अत: सब उसको प्राप्त करना चाहते हैं, सब उसका अन्वेषण करते हैं। यह सुख आत्मस्वरूप है। आत्मा की इस सुख स्वरूपता (आनन्दमयता) की अभिव्यक्ति में काम की सबसे बड़ी भूमिका है। स्पष्ट है कि इस स्थिति में मानव का काम के प्रति सर्वाधिक आकर्षण है।

मनुष्य-जीवन का मुख्य फल तत्त्वज्ञान है। तत्त्वलाभ के लिए जैसे जीवन अत्यन्त अपेक्षित है, उसी तरह से जीवन के लिए काम की भी नितान्त आवश्यकता है। जीवन को स्वस्थ, सुखी एवं सुरक्षित रखकर तत्त्वज्ञान के लिए अनुकूल बनाये रखना काम का मुख्य फल है और इन्द्रियप्रीति गौण फल। काम का फल इन्द्रियों को तृप्त करना नहीं, उसका प्रयोजन तो केवल जीवन का निर्वाह है। विषयों के सेवन से इन्द्रियाँ कभी भी तृप्त नहीं हो सकतीं, अत: जितना विषय-सेवन करने से अपना स्वास्थ्य ठीक बना रहे, उतना ही काम

(विषय) का सेवन करना उचित है। इस तरह काम का फल जीवन-निर्वाह है और जीवन का फल है—तत्त्व जिज्ञासा, अर्थात् उच्च कोटि का तत्त्व-चिन्तन। अतः जीवन-धारण के द्वारा तत्त्वज्ञान में उपयोगी होने के कारण काम का अपना महत्त्व है, इसकी अपनी विशिष्ट उपादेयता है।

सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के काम की इसमें अपनी-अपनी भूमिका है। विशेष काम में स्त्री और पुरुष के परस्पर स्पर्श प्रधान भोगाभिलाष का समावेश होता है। आजकल काम और कामी शब्द का प्रयोग इसी विशेष स्थिति के लिए किया जाता है। इतर सांसारिक विषयों की अपेक्षया इस स्थिति का विशेष आकर्षण है। बड़े-बड़े त्यागी, वीतराग और तपस्वी महात्मा भी अन्य सभी सांसारिक सुखों का परित्याग कर देने वाले लोकोत्तर महापुरुष भी, इस ओर आकृष्ट होकर अपने लक्ष्य से च्युत हो जाते हैं। इससे विशेष काम के आकर्षण की उत्कटता को देखा जा सकता है। इसीलिए विवेकी और त्यागशील पुरुष इस प्रसंग से सदैव बचते रहने की चेष्टा करते रहते हैं। स्पष्ट है कि यह विशेष काम विशेष रूप से हमें पथभ्रष्ट कर सकता है।

इसका कारण यह है कि शृंगार रस में ओतप्रोत स्त्री-पुरुष के परस्पर के सहवास में सभी इन्द्रियों के सभी विषयों की एक ही जगह एक ही साथ उत्कृष्ट अनुभूति होती है। अतः भिन्न-भिन्न विषयों के पृथक्-पृथक् रसास्वादन की अपेक्षा इसमें एक ही साथ सभी विषयों का रसास्वाद मिलने से संसारी लोगों को इतर विषयों की अपेक्षा इसमें अधिक रसानुभूति होती है। उपनिषद् कहीं इस सुख की समाधि की स्थिति से तो अन्यत्र ब्रह्मानन्द से तुलना करते हैं। स्पर्श-सुख की इसमें विशेष भूमिका मानी गई है। उपनिषद् का भी कहना है—"सर्वेषामानन्दा-नामुपस्थ एकायनम्"। इस विशेष काम का, सामान्य काम का भी जो लक्षण कामसूत्र में दिया गया है, उसकी चर्चा हम त्रिवर्ग प्रकरण में कर चुके हैं।

प्राणियों को काम में प्रवृत्त कराने वाला भी काम ही है। यह काम बाह्य, आन्तर और वासना के भेद से तीन प्रकार का होता है। इन्हीं को स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर काम कहते हैं। स्त्री, पुत्र, गृह, क्षेत्र आदि स्थूल विषय बाह्य काम कहलाते हैं। इन्हीं को स्थूल काम कहा जाता है। विषयों का चिन्तन करते समय जो बाह्य विषय सूक्ष्म रूप से केवल मन में प्रतीत होते हैं, वे काम के आन्तरिक रूप होने से आन्तरिक काम कहलाते हैं, इन्हीं को सूक्ष्म काम भी कहते हैं। अनुभूत विषयों के इनसे भी अत्यन्त सूक्ष्म संस्कार अन्तःकरण में अंकित हो जाते हैं, उनको वासना रूप काम कहा जाता है। इन्हीं का नाम सूक्ष्मतर काम है। काम के इन तीन भेदों में से सूक्ष्म और सूक्ष्मतर, अर्थात् आन्तरिक और वासनामय काम ही बाह्य, अर्थात् स्थूल काम की प्रवृत्ति के मूल कारण हैं।

इनमें से सूक्ष्म काम का निवास-स्थान चित्त है। सभी काम सूक्ष्मतर रूप से, वासना रूप से प्राणियों के चित्त में प्रविष्ट होकर छिपे रहते हैं। निमित्त पाकर विषय अथवा विषयी जनों के सम्पर्क से उद्बुद्ध होकर फिर वे चित्त में उन-उन कामनाओं को उत्पन्न कर देते हैं। आन्तरिक कामनाओं को जगा कर ये जीवों को स्थूल काम, अर्थात् बाह्य विषयों में प्रवृत्त करा देते हैं। इस तरह से ब्रह्माण्ड में समस्त प्रवृत्तियों का मूल बीज एकमात्र काम ही है। मानव के चित्त में इसका निवास है। इसीलिए उपनिषदों में पुरुष को काममय कहा गया है। वासना रूप में स्थित काम सभी अनर्थों का जड़ है। यही असंग, अजर, अमर आत्मा को जगत्-प्रपंच में, जीवन-मरण के चक्कर में डालने वाला है। यह वासनात्मक काम ही प्राणियों के जन्म-मृत्यु रूप बन्धन का कारण है। प्राणि मात्र को सत् और असत् कर्मों में वासना के रूप में स्थित यह काम ही प्रवृत्त कराता है। काम ही समस्त सृष्टि का संचालक है। विश्व में जो कुछ भी हुआ है अथवा हो रहा है, वह सब इस काम का ही कार्य है। मनुस्मृति में भी कहा गया है कि इस जगत् में ऐसी कोई क्रिया नहीं है, जिसके मूल में काम न हो। इस प्रकार काम की स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर प्रवृत्तियाँ निरन्तर काम करती रहती हैं।

आन्तरिक (सूक्ष्म) काम की उत्पत्ति बाह्य काम से होती है। इन्द्रियों के द्वारा बार-बार बाह्य विषयों को देखने-सुनने से चित्त उन विषयों में आसक्त हो जाता है और ये विषय उस चित्त में अंकित हो जाते हैं। मन की प्रेरणा से इन्द्रियाँ बाह्य विषयों की ओर दौड़ती हैं, तो मानव की बुद्धि उन पर आसक्त हो जाती है। इस तरह आन्तरिक काम को उत्पन्न करने वाला और वासनामय काम को उद्बुद्ध करने वाला बाह्य काम ही है। बाहर का ही काम अन्दर बुद्धि में प्रविष्ट होता है, अत: आन्तर काम की निवृत्ति के लिए उसे नष्ट करने के लिए पहले बाह्य काम का निरोध अपेक्षित है। ऐसा होने पर ही अन्दर के काम का, अर्थात् मन और बुद्धि में आन्तर काम का और वासनामय का भी निरोध हो सकता है।

इसके लिए मनुष्य को कुसंगति का त्याग करना पड़ेगा। काम और कामियों का संग इतना भयानक होता है कि साधारण लोगों की तो बात ही क्या, सौभरि जैसे महान् वीतराग तपस्वी के मन में भी काम की वासना उमड़ गई। श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध के नवें अध्याय में इनकी कथा दी गई है। आन्तरिक काम अत्यन्त दु:खद है। कामासक्ति के बैठ जाने पर फिर बाह्य काम में लोगों का ऐसा दृढ़ अभिनिवेश हो जाता है कि वे लोग आत्मा को शरीर से पृथक् तत्त्व न समझकर चैतन्य से युक्त इस स्थूल शरीर को ही आत्मा मानने लगते हैं और एक मात्र काम को ही पुरुषार्थ मान लेते हैं।

काम के इस प्रभाव की शास्त्रों में विशद चर्चा मिलती है। काम से चित्त सदैव साभिलाष बना रहता है। इसकी महिमा बड़ी अपार है। सब काम्य विषय वासना के रूप में चित्त में चुभ जाते हैं, प्रविष्ट हो जाते हैं. अर्थात् उसी में छिप जाते हैं। यह चित्त भी विषयों में प्रविष्ट हो जाता है। इस तरह से चित्त विषयों में और विषय चित्त में, दोनों ही परस्पर एक-दूसरे में विलीन होकर एक रूप हो जाते हैं। इस प्रकार चित्त और विषयों का एकीकरण हो जाने पर फिर विषयों का परित्याग करना अत्यन्त कठिन हो जाता है, क्योंकि मन में विषयों की लालसा बढ़ जाने पर फिर भोग्य-विषयों में गुण ही गुण प्रतीत होने लगते हैं। इस हृदय-ग्रन्थि का भेदन अपेक्षित है।

काम को मन्मथ भी कहा जाता है। प्रबल काम लोगों के मन को मथ डालता है, जिससे वह फिर अपने वश में नहीं रह जाता। वह परवश होकर हठात् अकर्तव्य में प्रवृत्त हो जाता है। यह इस मन्मथ (काम) का ही पराक्रम है। भगवद्गीता (३.३७) में काम और क्रोध को मानव का महान् शत्रु बताया गया है। महाभारत का कहना है कि अतिलोभी का अर्थ और अधिक आसक्ति रखने वाले का काम, ये दोनों ही धर्म को हानि पहुँचाते हैं। अतः इन सब दोषों से विशेष रूप से इस मन्मथ काम से बचना मानव-मन की शान्ति के लिए अति आवश्यक है।

मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है, शान्ति को प्राप्त करना। काम उसको नष्ट कर देता है, क्योंकि काम के अधिक सेवन से कामासक्ति बढ़ती है। कामासक्ति से वासनाएँ प्रबल होती हैं, प्रबल वासनाओं से चित्त में काम प्रबल हो उठता है, जहाँ काम प्रबल होता है, तो वहाँ फिर काम की सन्तति, क्रोध, लोभ और मोह भी प्रबल हो जाते हैं। इन्हीं सब से फिर मनुष्य का ज्ञान आवृत हो जाता है। ज्ञान के आवृत होने से शान्ति जाती रहती है। भगवान् ने काम को ज्ञानी का नित्य वैरी माना है।

इसके सभी प्रकार के दोषों का निवारण करने के लिए यह अपेक्षित है कि मनुष्य धर्माविरुद्ध काम का सेवन करे। गीता (७.११) में, धर्माविरुद्ध काम को भगवान् का ही स्वरूप माना गया है। इसीलिए काम की भी गणना पुरुषार्थ में होती है, क्योंकि धर्म में सहायक होकर काम भी पुरुष के परम पुरुषार्थ (मोक्ष) का साधक बनता है। शास्त्र-संमत काम के सेवन से इच्छित विषयों की समय से प्राप्ति तथा उनके उपभोग से धर्मानुष्ठान का मुख्य साधन शरीर स्वस्थ और सुरक्षित रहता है। इस तरह से जो व्यक्ति अप्रमत्त होकर धर्मानुकूल काम का सेवन करता है, मन में प्रमाद नहीं आने देता, नित्य के नियम-पालन में सावधानी से लगा रहता है, उसे काम परवश नहीं कर पाता, ऊपर बताए गये काम-दोष

उससे दूर ही रहते हैं। इस दृष्टि से तीसरा पुरुषार्थ काम भी अत्यन्त आवश्यक और उपादेय है।

धर्माविरुद्ध काम ही वैध काम कहलाता है। वैध काम, अर्थात् वैध भोगों से ही मनुष्य की तृप्ति हो सकती है। अवैध भोगों से कदापि नहीं। जैसे अवैध स्त्री या अवैध पति उपपत्नी या उपपति कहलाते हैं, वैसे ही अवैध भोग भी कुभोग है। काम के अनियन्त्रित हो जाने पर वह धर्म, अर्थ और मोक्ष, तीनों ही पुरुषार्थों का बाधक होता है। इसीलिए राजनीति और अर्थनीति के ग्रन्थों में क्रोधज व्यसनों के साथ कामज व्यसनों का भी परित्याग आवश्यक बताया गया है। दुर्व्यसनों के सेवन से असंख्य पुरुषों का पतन हुआ है, अतः इनके नियन्त्रण के लिए शास्त्रों मे अनेकों उपाय किये गये हैं। इनमें काम के नियन्त्रण के लिए धार्मिक विवाह का सर्वोपरि स्थान है। इन दुर्जय इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को जीतने के लिए गृहस्थाश्रम एक दुर्ग के समान है।

धर्म अर्थ और काम नामक त्रिवर्ग के एक-एक मल की चर्चा पहले हो चुकी है। वहाँ के काम के मल को संप्रमोह नाम दिया गया है। संप्रमोह का तात्पर्य है, विवेक का अभाव। काम के इस दोष के कारण मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है। अविवेकी पुरुष मोहग्रस्त होकर क्षुद्र वैषयिक सुखों में आसक्त हो अन्ततः नष्ट हो जाता है। भगवद्गीता (२.६२-६३) के ये वचन हमारे लिए अवधेय हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधाऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

अर्थात् विषयों का ध्यान करने पर मनुष्य में उनके प्रति आसक्ति पैदा हो जाती है, आसक्ति के साथ ही उसको प्राप्त करने की चाह पैदा होती है, चाह के पूरा न होने पर व्यक्ति में क्रोध पैदा होता है, क्रोधी व्यक्ति मोहग्रस्त हो जाता है और इससे वह स्मृति-भ्रंश का शिकार हो जाता है। इसके कारण उसकी बुद्धि का नाश हो जाता है, अन्ततः बुद्धि के भ्रष्ट हो जाने पर वह स्वयं भी नष्ट हो जाता है। यहाँ काम का का अन्तिम दुःपरिणाम बुद्धिभ्रंश को बताया गया है। इसके कारण मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है। इसीलिए भगवान् ने काम को मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु बताया है—''विद्ध्येनमिह वैरिणम्'' (भ० गी० २.३७)। इससे स्पष्ट हो जाता है कि दोषग्रस्त काम सभी अनर्थों की जड़ है, अतः मनुष्य को इन दोषों से दूर ही रहना चाहिए। अन्यथा मानव-समाज नास्तिकता, दुराचार, काम- लोलुपता (कामासक्ति) जैसे दोषों से ग्रस्त हो जाता है।

शास्त्रों में धर्म से नियन्त्रित अर्थ और काम के सेवन का विधान है। आजकल भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र घोषित किया गया है। इस शब्द का अभिप्राय जो भी बताया जाय, इस देश की जनता प्रस्तुत शब्द की विद्रूपता और अपने चिर रूढ़ संस्कारों के कारण अनियन्त्रित अर्थ और काम के शिकंजे में फंसती जा रही है। इसके कारण राष्ट्र में नास्तिकता के साथ दुराचार का प्रसार तेजी से हो रहा है। शास्त्रों में बताया गया है कि जो व्यक्ति धर्म का परित्याग कर केवल अर्थ और काम का ही सेवन करता है, उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धि का नाश ही मोह है। मोह धर्म का विरोधी है। इससे मनुष्य में नास्तिकता और दुराचार की भावना उत्पन्न होती है। आज इस राष्ट्र में यही हो रहा है। काम-लोपुपता और गलत तरीके से धनोपार्जन की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, इन्हीं के कारण मनुष्य में परस्त्री, परधन और पराई वस्तुओं का आकर्षण बढ़ता जा रहा है। राष्ट्र की इस बढ़ती हुई दुष्प्रवृत्ति पर अतिशीघ्र नियन्त्रण स्थापित होना चाहिए। यह तभी हो सकता है, जब हम बढ़ती हुई काम लोलुपता पर रोक लगा सकें।

काम की पुरुषार्थ में गणना होती है। शरीर और इन्द्रियों की पुष्टि के लिए उचित मात्रा में काम का सेवन अत्यावश्यक है, परन्तु इसी को प्रधान मान कर विषयों के प्रति लम्पट हो जाना उचित नहीं है। यह एक महान् दुर्गुण है। कामी पुरुष दुर्व्यसनी हो जाता है। दुर्व्यसनों में पड़कर असंख्य मनुष्य पतित हो गये हैं। कामसूत्र में इसके कुछ उदाहरण भी दिये गये हैं। दुर्व्यसनों में ग्रस्त मनुष्य कभी भी उन्नति प्राप्त नहीं कर सकता। काम में आसक्ति के बढ़ने से चित्त का विषयों के प्रति अत्यन्त अभिनिवेश हो जाता है। इसके कारण मनुष्य में विवेक और वैराग्य का उदय नहीं होने पाता। विवेक और वैराग्य के बिना तत्त्व-चिन्तन नहीं हो सकता और बहिर्मुख मानव परम शान्ति की तलाश में नहीं लग पाता।

इस दुर्दान्त काम को सीमित एवं क्षीण करने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि भगवदर्पण की बुद्धि से सब कुछ किया जाय। काम्य वस्तुओं और उनके उपभोग की इच्छा केवल अपने उद्देश्य से करना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी संकुचित इच्छा (काम) बन्धन का ही कारण बनती है। मनुष्य को काम्य वस्तुओं का उपार्जन देवता, पितृगण, अतिथि, बन्धु-बान्धव, इष्ट-मित्र, दीन-अनाथ की एवं भगवान् की सेवा के उद्देश्य से करते हुए सबको अपना-अपना अंश समर्पित कर भगवत्प्रसाद के रूप में किया जाने वाला कामोपभोग फिर बन्धन का कारण नहीं बनता, यह तो परम पुरुषार्थ की प्राप्ति में सहायक हो जाता है। अत: विषयों के प्रति आकर्षण को छोड़ कर व्यक्ति को उत्कृष्ट काम का सेवन करना चाहिए।

आनन्द की सुख की इच्छा सबको होती है, परन्तु केवल इच्छा होने से ही वह प्राप्त नहीं होता। आनन्द को प्राप्त करने के लिए साधु, सत्कर्मी और चरित्रवान्

होना अत्यावश्यक है। दुष्ट, दुराचारी और दुर्व्यसनियों को ऐहलौकिक एवं पारलौकिक विषयों के भोग का यथार्थ सुख, यानी पूर्ण आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता। जो व्यक्ति जितना अधिक चरित्रवान्, साधु और विद्वान् होगा, उसे उतना ही अधिक काम का उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त होगा। इसमें भी सबसे अधिक उत्कृष्ट आनन्द उसी को प्राप्त होता है, जो व्यक्ति अकामहत, अर्थात् विषयों की कामनाओं से पीड़ित न होने वाला हो, यानी जो पूर्ण जितेन्द्रिय हो। काम से पराभूत न होने वाले पूर्ण जितेन्द्रिय व्यक्ति को ही वह अखण्ड ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है। अकामहत मानव को प्राप्त होने वाले आनन्द का वर्णन तैत्तिरीयोपनिषत् (२.८) में मिलता है।

यह स्थिति निष्काम भाव से विषयों के सेवन तथा मन, वचन और शरीर के माध्यम से सम्पन्न होने वाली समस्त क्रियाओं को भगवान् को समर्पित कर सर्वतोभावेन ईश्वर का आश्रयण करने से प्राप्त होती है। उस स्थिति में यह काम भी भगवदर्पित हो जाता है।

४. मोक्ष

काम ही क्यों? ज्ञानी पुरुष धर्म और अर्थ को भी भगवान् को समर्पित कर देता है। उसी स्थिति में मोक्ष नामक चतुर्थ परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। अर्थ और काम की चकाचौंध के सामने अधिकांश अविवेकी पुरुष मोक्ष को शुष्क और नीरस मानकर उसका नाम सुनते ही घबड़ा जाते हैं। वे लोग समझते हैं कि भला! मोक्ष में क्या आनन्द मिलेगा? वहाँ न तो यह शरीर ही रहेगा और न ये प्रियतम विषय ही मिलेंगे, केवल यह आत्मा परमात्मा में मिल जायेगा। तब हमें इसमें आनन्द क्या मिलेगा।

परन्तु समस्त वेद एवं शास्त्र, महान् से महान् ज्ञानी ऋषि-महर्षि तथा समस्त प्रतिभाशाली महापुरुषों ने संसार भर के एक-से-एक सुखों की छान-बीन करके, उन्हें खूब अच्छी तरह से परख-परख करके अन्त में बिना मतभेद के सभी ने एक स्वर से यही एक अकाट्य अटल सिद्धान्त सुस्थिर किया है कि वास्तव में सबसे उत्तम, सबसे सुखमय, सबको अभीष्ट और चाहने योग्य निरवधिक अखण्ड आनन्दमय महान् सरस पुरुषार्थ **मोक्ष** ही है। मोक्ष ही समस्त पुरुषार्थों तथा समस्त सुखों का सम्राट् है। इसकी प्राप्ति किसी-किसी विरले ही भाग्यशाली को हो पाती है। अधिकांश लोगों के लिए तो यह एक आदर्शमात्र है।

''मुच्यते सर्वैर्दुःखबन्धनैर्यत्र स मोक्षः'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस पद को पाकर जीव समस्त दुःख-बन्धनों से मुक्त हो जाता है, उसे **मोक्ष** कहते हैं। इसीलिए इसका नाम मुक्ति भी है। इसका अर्थ बन्धनों से छूट जाना है। बन्धन परतन्त्रता को कहते हैं। जीव परतन्त्र और ईश्वर स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र ईश्वर की

कृपा से परतन्त्र जीव समस्त सांसारिक बन्धनों से छुटकारा पा जाता है। यद्यपि देह भिन्न है और देही आत्मा (जीव) भिन्न है, किन्तु देही (आत्मा) देह के अन्दर देह और इन्द्रियों के बन्धनों से खूब जकड़ा हुआ है। इसीलिए वह पूरी तरह से परतन्त्र है। बड़े-से-बड़ा सम्राट् भी अपनी इच्छा से इस बन्धन को तोड़ नहीं सकता और जब तक यह बन्धन है, तब तक जीव को परम आनन्द अर्थात् अखण्ड सुख मिल ही नहीं सकता।

सुख-दुःख से हम सभी लोग परिचित हैं। नैयायिकों ने अनुकूल-वेदनीय और प्रतिकूल-वेदनीय के रूप में इनका परिचय दिया है। यद्यपि अनुकूल-वेदनीय सुख को ही सब चाहते हैं, प्रतिकूल-वेदनीय दुःख को कोई नहीं चाहता, तो भी प्रकृति का यह एक ऐसा अटल नियम है कि किसी-न-किसी रूप में दुःख सभी को भोगना ही पड़ता है। सुख-दुःख का भोग सबका एक-सा नहीं रहता। प्राणी मात्र का हृदय सुख के लिए अत्यन्त लालायित रहता है, लेकिन इसकी प्राप्ति अपने पुरुषार्थ और पूर्वसंचित कर्मों के ऊपर निर्भर रहती है।

प्राणीमात्र सुख का अभिलाषी है। मनुष्य का हृदय तो इसके लिए बहुत ही लालायित रहता है। सुखी मनुष्य की भी अपने से अधिक सुखी व्यक्ति को देखकर सुख की लालसा बढ़ने लगती है। उसके न मिलने पर उसका अपना वर्तमान सुख बढ़ी हुई लालसा के कारण दुःख रूप में परिणत हो जाता है। इसी को देखकर विवेकी पुरुषों की दृष्टि में, सांसारिक सुख परिणाम में नीरस होने के कारण दुःखमय ही है। महर्षि पतंजलि ने अपने एक सूत्र में इस स्थिति को इस तरह से स्पष्ट किया है—"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (२.१५)। इसका अभिप्राय यह है कि विषय-सुख नित्य-सुख नहीं है। यह क्षणिक और दुःख से मिश्रित है, क्योंकि विषय-सुख को प्राप्त करने के लिए बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है, साथ ही सुख के अनुभव के क्षणों में भी प्रायः कोई-न-कोई दुःख वहाँ रहता ही है। संसारी पुरुष को ऐसे सुख का अनुभव कभी भी नहीं होता, जिसके अनुभव के समय बाह्य या आन्तरिक कोई एक भी दुःख मन्द रूप से भी न रहे। साथ ही साथ सांसारिक सुख परिणाम में विनाशी है, विषय-सुख का नाश अवश्यंभावी है और उसका नाश होते समय फिर बड़ा भारी दुःख होता है। इस तरह से यह सुख भविष्य में दुःख का हेतु है और वर्तमान समय में भी उसके विनाश का भय लगा ही रहता है। इस प्रकार विषयों से प्राप्त होने वाला सुख दुःखों से ओतप्रोत है। ऐसा सुख परिणाम में शोक रूप में ही परिणत हो जाता है।

इस प्रसंग में योगशास्त्र में योगी की विशेष रूप से चर्चा मिलती है। वहाँ योगी को अक्षिपात्र-कल्प बताया गया है। मानव के अन्य अंगों पर सूक्ष्म चीजों

के गिर जाने का कोई असर नहीं होता, किन्तु आँख में पलक के बाल के गिर जाने पर भी वह अशान्त हो उठता है। आँख में से जब तक वह बाल निकल नहीं जाता, तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती। ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न योगी की भी संसार में ऐसी ही स्थिति है। उसे प्रत्येक सांसारिक सुख में दुःख की कणिका मिली हुई लगती है। इसीलिए उसमें मोक्ष-सुख पाने की उत्कट अभिलाषा जाग उठती है, जिसमें दुःख की रंचमात्र की भी स्थिति नहीं रहती।

काम से प्राप्त होने वाला सुख ऐसा नहीं है, केवल सुखाभास है। भूख लगने पर भोजन करने से कुछ समय के लिए भूख मिट जाती है। प्यास की परेशानी पानी पीने से कुछ समय के लिए दूर हो जाती है। इसी तरह उन-उन विषयों के चिन्तन से उन-उन इन्द्रियों की जो परेशानियाँ बढ़ती हैं, वे सब भी उन विषयों के सेवन से थोड़ी देर के लिए शान्त अवश्य हो जाती है, किन्तु भूख और प्यास की ही तरह वे कभी भी पूरी तरह मिटती नहीं । जैसे इस लोक की सम्पत्ति प्रत्यक्ष ही नाशवान् है, वैसे यज्ञ-याग आदि से प्राप्त होने वाला स्वर्ग आदि का सुख भी नाशवान है, इनमें परस्पर समानता भी नहीं है। स्पष्ट है कि ये सब सदोष हैं। किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने के दो ही प्रमुख उद्देश्य हैं—सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति। पुण्य कार्य से सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति होती है, ऐसा हमारा विश्वास है, किन्तु इसके विपरीत भी हम देखते है कि पुण्यात्मा इस जगत् में दुःख भोग रहा है और पापी जन सुख-समृद्धि की ओर अग्रसर हैं। इस प्रश्न का समाधान खोजने की अपेक्षा हमारे लिए यह उचित होगा कि हम सच्चे सुख की तलाश में आगे बढ़ें।

यह सच्चा सुख तो तभी प्राप्त हो सकता है, जबकि हमारी भूख, प्यास, विषय-तृष्णा, राग-द्वेष, जन्म-मरण आदि दुःख की सारी परम्पराएँ सदा के लिए बन्द हो जाय। मुक्ति इसी का नाम है। यहाँ आकर सांसारिक सुख-दुःखों की सत्ता समाप्त हो जाती है। उसके भीतर "अहं ब्रह्माऽस्मि" (मैं ही ब्रह्म हूँ) इस तरह का बोध जाग उठता है। मुक्ति ही निर्वाण और अपवर्ग के नाम से भी जानी जाती है। निर्वाण की स्थिति में मानव का समस्त वाण अर्थात् ताप समाप्त हो जाता है। अपवर्ग की स्थिति में भी वह त्रिवर्ग, अर्थात् धर्म, अर्थ और काम नामक पुरुषार्थ की तीनों कोटियों से ऊपर उठ जाता है। विभिन्न शास्त्रों में यह स्थिति कैवल्य, परमपद, परमज्योति, निःश्रेयस जैसे नामों से जानी जाती है।

हृदय से सम्पूर्ण द्वैतभाव को मिटा कर अद्वय परम आनन्दमय ब्रह्म के साथ एकीभाव को प्राप्त कर लेना ही मनुष्य-जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य है। जिस अवस्था में इस मानवीय सत्ता का व्यापक भागवत सत्ता के साथ एकीभाव हो जाता है, उसी को **कैवल्य** कहते हैं। इस स्थिति में जीव के समस्त क्लेश विलीन हो जाते हैं, नष्ट

हो जाते हैं। इस तरह से मुक्ति के पर्यायवाची सभी शब्दों की व्युत्पत्ति और निर्वचनों पर विचार करने से निश्चित होता है कि समस्त दु:खों के संसर्ग का अभाव हो जाना, अर्थात् समस्त दु:खों से रहित होकर अपने आनन्दमय स्वरूप का साक्षात्कार करके ब्रह्ममय मोक्ष, निर्वाण, अपवर्ग आदि नामों से अभिहित होने वाले मोक्ष को प्राप्त करना ही मानव-जीवन का प्रधान लक्ष्य है।

वास्तव में यदि देखा जाय तो मुख्य पुरुषार्थ एकमात्र मोक्ष ही है। उसी को प्राप्त करने के लिए त्रिवर्ग की अपेक्षा है, मुख्य पुरषार्थ मोक्ष की प्राप्ति में सहायक होने से त्रिवर्ग को भी पुरुषार्थ कहा जाता है, अर्थात् धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों पुरुषार्थ वास्तव में साक्षात् या परम्परा से मोक्ष के ही साधन हैं, मुख्य पुरुषार्थ तो एकमात्र मोक्ष ही है। इसीलिये मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहा गया है।

यह इसलिए कि मनुष्य का निश्चित कल्याण तो मोक्ष के प्राप्त होने पर ही होता है। इसीलिए मोक्ष को नि:श्रेयस कहते हैं। ''निश्चितं श्रेय:, नि:श्रेयसम्'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार नि:श्रेयस शब्द का अर्थ जीव का सबसे बड़ा हित, जीव का जो अभीष्ट फल निश्चित है, जो कभी भी नष्ट नहीं होता, अर्थात् जिसकी स्थायिता में किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है, ऐसे सर्वोत्तम अभीष्ट फल (परम पुरुषार्थ) को नि:श्रेयस कहते हैं। यह बात केवल एक मोक्ष में ही संभव है, अन्य तीन पुरुषार्थों में तो सदा काल का भय लगा ही रहता है। इसीलिए शास्त्रों में उसी नि:सीम सुख के लिए प्रयत्न करना पुरुषार्थ माना गया है, जिसमें कभी कोई कमी-बेशी न हो और जिसका कभी विनाश न हो। इस प्रकार का जो अक्षय फल है, अर्थात् अविनाशी सुख है, वही नि:श्रेयस है।

तत्त्वज्ञान से ही इसकी प्राप्ति हो सकती है। पुरुष पुरुषार्थ मोक्ष और उसकी प्राप्ति के प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से नहीं जाने जा सकते। उनको जानने का एकमात्र उपाय शास्त्र-प्रमाण है। भगवत्तत्त्व शास्त्र से ही जाना जा सकता है। लौकिक या वैदिक उपायों से सम्पूर्ण दु:खों की निवृत्ति होना असंभव है, प्राणी मात्र का शरीर पुण्य और पाप से रचित है, किसी एक से नहीं। पाप का फल दु:ख है, अत: जब तक शरीर का अस्तित्व रहेगा, तब तक दु:ख-निवृत्ति नहीं हो सकती और शरीर का अस्तित्व तब तक बना रहेगा, जब तक पुण्य-पाप हैं। पुण्य और पाप से ही सब शरीर बनते हैं। पुण्य-पाप का सर्वथा अभाव तभी हो सकता है, जब राग और द्वेष मिट जाँय, क्योंकि जगत् में जितने भी पुण्य-पाप कर्म होते हैं, उनके मूल कारण ये राग-द्वेष आदि दोष ही हैं। ये दोष विश्व को ब्रह्मात्मक न समझने से उत्पन्न होते हैं। अत: इनकी निवृत्ति के लिए तत्त्वज्ञान अपेक्षित है।

संसार शब्द का अर्थ जन्म-मरण का बन्धन है। तत्त्वज्ञान से उसकी निवृत्ति होना ही मोक्ष है। मोक्ष को प्राप्त करना ही इस मानव-जीवन का सर्वोच्च लाभ है। इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति को संसार के समस्त दुःखों से मुक्त होने के लिए सदा प्रयत्नशील होना चाहिए। आत्मतत्त्व को जानने से यह मनुष्य-जन्म सार्थक होता है। अत: मनुष्य-जन्म पाकर आत्मतत्त्व को अर्थात् अपने यथार्थ स्वरूप को न जानना, यह मानव-जीवन की बड़ी भारी क्षति है, इस अमूल्य जीवन का व्यर्थ बरबाद हो जाना है। इस क्षति की पूर्ति मानव आत्म-विवेचन के द्वारा कर सकता है। आत्म-विवेचन के माध्यम से ही तत्त्वज्ञान की सिद्धि हो सकती है।

जिस प्रकार पिता की सम्पत्ति में पुत्र का जन्म सिद्ध अधिकार है, उसी तरह बद्ध जीवात्मा को भी भगवत्प्राप्ति का स्वाभाविक अधिकार है। भगवत्प्राप्ति के लिए स्वरूपयोग्यता रखते हुए भी बद्ध जीव अनादि काल से माया से मोहित हो गया है। इसी के कारण इनका ज्ञान अत्यन्त संकुचित हो गया है, वह अपने वास्तविक स्वरूप को देख नहीं पाता। विवेकी पुरुष अध्यात्मशास्त्र की सहायता से जब आत्मा और अनात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो उसके मन में यह भावना दृढ़ हो जाती है कि "मैं यह देह, इन्द्रिय, मन आदि नहीं हूँ। ये सब जड़ हैं, मैं चेतन हूँ। ये सब स्वयं प्रकाशित होने वाले नहीं हैं, ये मेरे ज्ञान से ही प्रकाशित होते हैं। इनके विपरीत मैं तो स्वयं प्रकाशात्मक हूँ। ये सब ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता नहीं हैं, मैं तो ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता हूँ। ये शरीरधारी नहीं हैं, मैं शरीरधारी हूँ। ये अनित्य हैं, मैं नित्य हूँ। ये सावयव हैं, मैं निरवयव हूँ। ये सब काटने, भिगोने, जलाने और सुखाने आदि के योग्य हैं, मैं काटा नहीं जा सकता, भिगोया नहीं जा सकता, जलाया और सुखाया भी नहीं जा सकता। ऐसे व्यापारों का मुझ पर कुछ भी प्रभाव पड़ने वाला नहीं है। ये देह, इन्द्रिय आदि सब घटने-बढ़ने वाले हैं, मैं घटने-बढ़ने वाला नहीं हूँ, किन्तु सदा एक रूप से रहने वाला हूँ, ऐसा मेरा स्वरूप है।" यही है आत्म-विवेचन की प्रक्रिया। इसी से तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है, विवेकी पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप को समझने में समर्थ हो पाता है। अध्यात्म विद्या की सहायता से वह आगे बढ़ सकता है।

संसार अत्यन्त दुःखमय है। दुःखों का मूलोच्छेद उनके मूल निदान अविद्या का उच्छेद हुए बिना नहीं हो सकता। इसलिए अविद्या का विनाश ही एकमात्र पुरुषार्थ है। अविद्या का विनाश विद्या से ही हो सकता है। जिस विषय की अविद्या रहती है, उस विषय की विद्या (ज्ञान) के उत्पन्न हो जाने से वह अविद्या नष्ट हो जाती है, यह बात अनुभव सिद्ध है। स्पष्ट है कि मुक्ति की प्राप्ति का मुख्य साधन अध्यात्म विद्या (आत्म ज्ञान) है। आत्म ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती—"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"। अत: ज्ञान की अर्थात् आत्मज्ञान की

प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है। ज्ञान से ही मनुष्य के दु:खों का विनाश और मुक्ति-लाभ होता है।

आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए निष्काम भाव से कर्मों के आचरण के द्वारा परिशुद्ध अन्त:करण की अपेक्षा रहती है। अन्त:करण के शुद्ध हुए बिना, समस्त पाप-कर्मों का क्षय हुए बिना आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। प्राणियों का अन्त:करण अनन्तानन्त वासनाओं से घिरा रहता है। इस अन्त:करण की स्वच्छता ईश्वरार्पण बुद्धि से, निष्काम भाव से निज-निज धर्म की, अर्थात् वर्णाश्रम के अनुसार अपने-अपने कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान करने से होती है। सकाम भावना से अनुष्ठित धर्म मनुष्य को तीसरे पुरुषार्थ काम तक ही पहुँचा सकता है, इसमें चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष तक पहुँचाने की सामर्थ्य नहीं है। इसके लिए तो मानव को गीताप्रोक्त निष्काम कर्मयोग का ही सहारा लेना पड़ता है। निष्काम कर्मयोगी ही चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष का अधिकारी बन सकता है।

अन्त:करण की समस्त वासनाओं को उखाड़ फेककर मोक्ष को प्राप्त कर लेना कोई साधारण काम नहीं है, यह अत्यन्त ही कठिन कार्य है। मोक्ष का अधिकारी बनने के लिए समस्त एषणाओं का पूर्ण त्याग अपेक्षित है। जो ऋषिऋण, पितृऋण और देवऋण से मुक्त हो जाय, जिसकी पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा शान्त हो जाय तथा ईश्वरार्पण बुद्धि से निष्काम कर्म का अनुष्ठान करने से जिसका अन्त:करण शुद्ध हो जाय, ऐसा लोकोत्तर पुण्यशाली महानुभाव ही मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। मनुस्मृति (६.३६) में भी बताया गया है कि पहले विधिवत् अच्छी तरह से वेदशास्त्रों का अध्ययन कर, धर्मपूर्वक पुत्र उत्पन्न कर, फिर विधि के अनुसार यज्ञ-याग आदि का अनुष्ठान कर अन्त में व्यक्ति को मोक्ष की ओर मन लगाना चाहिए। ऐसा ही व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी बन सकता है।

इस तरह का अधिकार सम्पन्न व्यक्ति भी आत्मानात्मविवेक के बिना, समस्त वासनाओं का निर्मूलन किये बिना हृदय-ग्रन्थि को खोल नहीं पाता, अविद्या के कारण उलझी हुई जटिल वासनाओं को दूर नहीं कर सकता। हृदय के इन ग्रन्थियों से मुक्त हुए बिना, स्वच्छ हुए बिना मोक्ष की प्राप्ति अतीव कठिन है। हृदय से वासनाओं के जाल का निर्मूलन करने के लिए तत्त्वज्ञान, अर्थात् आत्मज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। आत्मानात्म के विवेक से ही यह प्राप्त हो सकता है। अत: मुमुक्षु पुरुष को चाहिए कि वह प्रकृति के प्रपंच को आत्मभाव से ग्रहण न करे, अर्थात् अपने को प्रकृति से पृथक् समझे। निरन्तर अभ्यास और वैराग्य के द्वारा विवेकी पुरुष इस बात को समझ सकता है कि मैं अन्य हूँ और यह त्रिगुणात्मक प्राकृत शरीर मुझसे भिन्न है। उस स्थिति में वह प्रकृति के संसर्ग से रहित होकर परमात्मा के साक्षात्कार में समर्थ हो जाता है। तब वह फिर इस

संसार में जन्म नहीं लेता। आत्मानात्म विवेक के माध्यम से वह तत्त्वज्ञान से सम्पन्न हो जाता है। यह तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान ही तो मोक्ष का मार्ग है।

परन्तु आत्मज्ञान का मार्ग सर्वसाधारण के लिए सुलभ नहीं है। ज्ञानमार्ग का अधिकारी कोई विरला ही हो सकता है। इसीलिए शास्त्रों में ज्ञान के अतिरिक्त भक्ति को तत्त्व (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए सबसे सरल, सुगम और सभी के लिए उपयोगी, अर्थात् ज्ञानी से लेकर सामान्य जन तक सबके लिए सरल एवं उत्तम मार्ग बताया गया है। रामानुज वेदान्त में छान्दोग्योपनिषद् (७.२६.२) में वर्णित ध्रुवा स्मृति की भक्ति और प्रपत्ति के रूप में व्याख्या की गई है। आगम-तन्त्रशास्त्र और पुराणों में कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति—इन चारों की मोक्षसाधनता प्रतिपादित है। भागवत महापुराण और अन्य महापुराणों में केवल कर्म के द्वारा भी कैवल्य-प्राप्ति वर्णित है। भगवद्गीता के अनेक भाष्यकार कर्म और ज्ञान के समुच्चय को मोक्ष का प्रमुख कारण मानते हैं. प्रसंगवश इस विषय पर विचार कर लेना जरूरी है।

कूर्मपुराण के उपरि विभाग में स्थित ईश्वरगीता (१-११ अ०) में ज्ञानमार्ग और व्यासगीता (१२-३३ अ०) में कर्ममार्ग उपदिष्ट है। इस पुराण के प्रारम्भ में इन्द्रद्युम्न से भगवती महालक्ष्मी कहती हैं कि भगवान् पुरुषोत्तम की ज्ञानयोग और कर्मयोग के द्वारा आराधना करने वाले पर मेरी माया नहीं चलती, अत: मोक्ष-प्राप्ति के इच्छुक कर्मयोग-परायण व्यक्ति को ज्ञानयोग का भी सहारा लेना चाहिए (१.१.५९-६०)। यहाँ (१.२.६१-६७) बताया गया है कि कर्म और ज्ञान दोनों से मोक्ष की प्राप्ति होती है, अत: ज्ञान के साथ ही कर्म का भी सहारा लेना उचित है। वहीं (१.३.१४-२७) यह भी कहा गया है कि कर्मसहित ज्ञान से ही ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है। कर्म की सहायता से ज्ञान में निर्मलता आती है और इसके प्रसाद से व्यक्ति को नैष्कर्म्य की सिद्धि होती है।

केवल कर्मयोग के द्वारा भगवान् की उपासना भी यहाँ वर्णित है (१.१.१९५; १.११.२६५; १.१६.६८)। श्रीमद्भागवत का "नैष्कर्म्यं कर्मणां यत:" (१.३.८) यह वाक्य केवल कर्म की ही मोक्ष-साधनता को बताता है। प्रसिद्ध टीकाकार श्रीधर इसी पक्ष का समर्थन करते हैं। मत्स्यपुराण (५२.५; २५७.१) में ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग का महत्त्व हजार गुना अधिक बताया है। कर्मयोग की महत्ता भागवत में अन्यत्र (११.३.४१) भी प्रदर्शित है। वहाँ (११.२७.७) यह भी बताया गया है कि भगवान् की आराधना ही क्रियायोग है। "तप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग:" (२.१) कहकर महर्षि पंतजलि भी इसका समर्थन करते हैं। भागवत के उक्त वचन (१.३.८) में सात्वततन्त्र

चर्चित है। पांचरात्र की सात्त्वतसंहिता यहाँ स्मृत है। पांचरात्र-संहिताओं में भी कर्मयोग को ही प्रधानता दी गई है।

महाभारत के शान्तिपर्व के अन्त में स्थित नारायणीयोपाख्यान में प्रवृत्तिधर्म का विशेषरूप से वर्णन मिलता है। मनुस्मृति (१२.८८-९०) में प्रवृत्त और निवृत्त दोनों ही प्रकार के कर्मों को वैदिक माना है। आभ्युदयिक, ऐहिक सुख को देने वाले काम्य कर्मों को प्रवृत्त और ज्ञानपूर्वक किये गये निष्काम कर्म को निवृत्त कहा जाता है। कूर्मपुराण में भी ये द्विविध कर्म चर्चित है। यहाँ ज्ञानरहित कर्म प्रवृत्त और ज्ञान सहित कर्म निवृत्त माना गया है। निवृत्त कर्म का अनुष्ठान करने वाला परम पद को प्राप्त करता है। कूर्मपुराण के उपरि विभाग के ३७वें अध्याय में इन विविध कर्मों की चर्चा मिलती है। प्रवृत्ति-परायण ब्राह्मणों को निवृत्ति धर्म का उपदेश करने के लिए भगवान् शिव दारुवन में जाते हैं (२.३७.३-५)। इससे यह स्पष्ट होता है कि पांचरात्र धर्म प्रवृत्ति-परायण और पाशुपत धर्म निवृत्ति-परायण है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय शास्त्रों में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही प्रकार के धर्मों का समान रूप से प्रतिपादन हुआ है।

अनेक स्थानों पर जब ज्ञान और कर्म के समुच्चय की चर्चा मिलती है, तो इसके बारे में यह स्वाभाविक जिज्ञासा उठती है कि भगवद्गीता में, विभिन्न दर्शनों और पुराणों में इस विषय में क्या कहा गया है? प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्मों (कर्मों) की ऊपर चर्चा हुई है। प्रवृत्ति शब्द का अर्थ जीवन पर्यन्त संन्यास न लेकर चातुर्वर्ण्य-विहित कर्मों का अनुष्ठान करते रहना है और निवृत्ति धर्म का अर्थ है यतियों के द्वारा लिया गया संन्यास। गीता में प्रवृत्ति धर्म के साथ यतियों का निवृत्ति धर्म भी वर्णित है। गीता की, मनु, इक्ष्वाकु आदि की तथा जनक आदि की परम्परा प्रवृत्ति मार्ग की है, निवृत्ति मार्ग की नहीं। विष्णुपुराण (१.६.३०-३१) ने प्रवृत्ति मार्ग का विरोध करने वाले को वेदनिन्दक कहा है। इसके विपरीत पाशुपत योगाचार्यों की परम्परा में निवृत्ति मार्ग की प्रधानता है। इन योगाचार्यों को सर्वत्र निवृत्ति-परायण बताया गया है। लिङ्गपुराण (१.२९.७-८) में वर्णित है कि प्रवृत्ति-परायण मुनियों को निवृत्ति मार्ग का उपदेश देने महामुनि श्वेत दारुवन गये थे।

ऊपर वर्णित कर्म और ज्ञान, प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्मों में सामंजस्य स्थापित कर ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का निरूपण शास्त्रों में किया गया है। कर्म और ज्ञान हंस के दो पंखों के समान हैं। हंस एक पंख से उड़ नहीं सकता, उसी प्रकार कर्म और ज्ञान में से किसी एक से मुक्ति नहीं मिल सकती। दोनों का समुच्चय अपेक्षित है।

पद्मविभूषण पं० गोपीनाथ कविराज ने ब्रह्मसूत्र के हिन्दी अनुवाद की विस्तृत भूमिका (पृ० ४२-४४) में बताया है कि वेदान्त के प्राचीन आचार्य ब्रह्मदत्त और भर्तृप्रपंच ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी थे। मण्डन मिश्र ने भी इन्हीं का अनुसरण किया है। सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा ग्रन्थ के लेखक डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि भट्ट कुमारिल और भट्ट प्रभाकर भी ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी थे (पृ० २७४-२८०)। वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपादभाष्य के टीकाकार श्रीधर भट्ट (पृ० ६८३) अनेक शास्त्रीय प्रमाणों से इसी वाद को स्थापित करते हैं। ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता के भाष्यकार आचार्य भास्कर तो ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद के प्रबल पक्षधर हैं ही। द्वैताद्वैतवादी वीरशैव दर्शन भी इस मत का समर्थक है। आचार्य शंकर अन्त:करण की शुद्धि के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति में कर्मों का विनियोग मानते हैं। आचार्य भास्कर ने भगवद्गीता के तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में तथा ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्याय के चतुर्थ पाद में उनके मत का खण्डन कर मुक्ति के उपाय के रूप में कर्मों का भी ज्ञान के समान साक्षात् उपयोग मानते हैं।

पुराणों में पुरुषार्थ और भाग्य को तराजू के दो पलड़ों के समान बराबर रखा है। ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी आचार्य भास्कर ने इस विषय में कूर्मपुराण के महत्त्व को स्वीकार किया है। ऊपर के इस पूरे विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म और दर्शन के अनेक ग्रन्थ ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद के प्रबल समर्थक हैं।

विभिन्न भारतीय दर्शनों में मोक्ष के स्वरूप के विषय में पर्याप्त मतभेद है, किन्तु इस बात पर सब एकमत हैं कि मुक्त जीव पुन: इस संसार में नहीं आता। स्वामी दयानन्द ही इसमें एकमात्र अपवाद हैं। ऐसा क्यों है? इसकी परीक्षा अपेक्षित है।





विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

ISBN : 81-7124-329-0 मूल्य : साठ रुपये